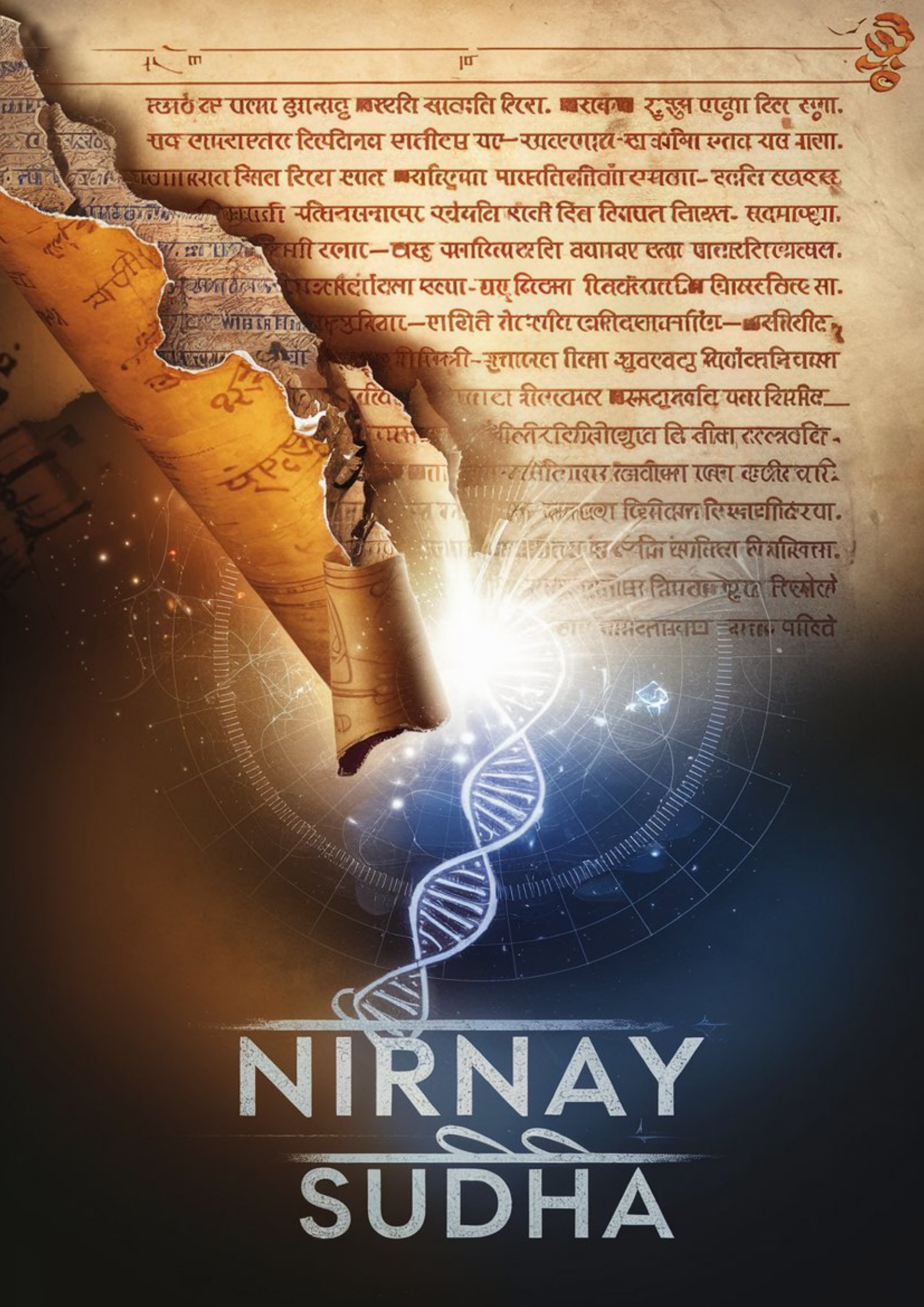
NIRNAY
SUDHA

निर्णय सुधा

लेखक- THOR aka Aman kr.

Date = 08-02-2024

भूमिका

सत्य क्या है? इसका निर्णय कौन कर सकता है? इसके लिए क्या पात्रता होनी चाहिए? समाजियो से दयानंद की समीक्षा की उम्मीद करना ठीक वैसा ही जैसा बिल्लियों से दूध की रक्षा करवाना। ठीक ऐसा ही अन्य संप्रदाय के साथ है। समाजियो को सत्य नही देखना। वह सभी शास्त्रो को दयानंद के चश्मे से देखते है। यदि कही उनके मत के विरुद्ध कुछ दिखता है तो उसको मिलावट बोलकर, अर्थ बदलकर, लीपा पोती करके दयानंद के मत के अनुकूल बना देते है। **समाजियो को लगता है की अगर ये बात दयानंद ने लिखी है तो इसके पीछे कुछ न कुछ विज्ञान अवश्य होगा। पौराणिक लोग समझ नही पा रहे है और व्यर्थ की निंदा अथवा खंडन करते है।** यह व्यक्ति विशेष की गुलामी है। ये कैसी निष्पक्षता है? ऐसा व्यक्ति कैसे दयानंद की समीक्षा कर सकता है। सत्य तक पहुँचना तो दूर की बात है।

समाजी सिद्धांत सही है अथवा नही यह निर्णय वही व्यक्ति कर सकता है। जो दयानंद को पहले से भगवान नही मानता। जब ग्रंथ मे लिखी बात दयानंद के विरुद्ध जाती है तब बिना हल्ला मचाये शांति से उसको स्वीकार करता है। जब तुम पहले से ही मान के बैठे हो की दयानंद ऋषि है और उनसे कोई गलती नही हो सकती फिर ये व्यर्थ का सत्य स्वीकार करने का नाटक क्यो? फिर shastrarth की चुनौती क्यो? फिर वाद विवाद खंडन मंडन की क्या आवश्यकता है? क्योकि अंततः तुमको मानना तो दयानंद की ही बात है। ये गुलाम मानसिकता है।

भला आज तक किस समाजी ने दयानंद की गलती मानी है? (जिसने प्रयास भी किया समाजियों ने उसे सुने बिना नकार दिया है|) जो समुदाय गलती को स्वीकार कर उसको ठीक नही करना चाहता उसके विकास की सारी संभावनाएं समाप्त हो जाती है। समाजियो के अंदर झूठा दंभ और अहंकार भरा हुआ है। दूसरे को हराने अपमानित करने का अहंकार। इसमे बच्चे अधिक है। 13 से 19 वर्ष के बच्चे के अंदर ऐसा होना स्वभाविक है। आशा है जैसे जैसे परिपक्वता आयेगी ज्ञान का विस्तार होगा वह इस विषय को बड़े आयाम मे देख पाएंगे।

समाजियों ने आर्ष और अनार्ष दो प्रकार के ग्रंथों की सूची बना रखी है। जो आर्षग्रंथ है, उसमें जो भी बात उनको गलत दिखती है, उसको वो मिलावट कह देते हैं। जो अनार्ष ग्रंथ उसमें जो भी बात गलत दिखती है तो उसको वो मिलावट नहीं बोलते। उसको कहते हैं कि ये गलत लिखा हुआ है और उसका खण्डन करते हैं। यही इनका दोगलापन है। एक उदहारण देखिये-

यदि पुराण मे कही लिखा हो की **"सुधर्मा नाम के यक्ष देव ने किसी अप्सरा का बलात्कार किया"**

समाजी- देखो तुम्हारे पुराण मे क्या लिखा है। गंदगी भरी है। गंदगी,,, देवी देवता rape कर रहे है।*

जब समाजी के किसी आर्ष ग्रंथ मे किसी ऋषि ने बलात्कार किया हो

हिंदू- देखो तुम्हारे ऋषि के बारे मे क्या लिखा है। पुराण का तो मज़ाक उड़ाते हो इस पर क्या बोलोगे

समाजी- पुराणिक पंडे को बलात्कार का अर्थ भी नही पता है। दिमाग मे कचड़ा भरा है तो rape ही समझोगे न। पहली बात बलात्कार का अर्थ rape होता ही नही है। ' बलात्कार का अर्थ बलात्करणम् अर्थात जबरदस्ती किया गया कार्य। कोश मे भी लिखा है। इसीलिए वहा ऋषि उस स्त्री के हाथ को जबरदस्ती पकड़ कर उसको समझा रहे है।*

जब अपने पर आती है तो इस प्रकार की लिपा पोती ये हर जगह करते हुए मिलेंगे सत्यार्थ प्रकाश इसका सबसे बड़ा उदहारण है|

सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में लिखा है “कही-कहीं शब्द , वाक्य रचना का भेद हुआ है सो करना उचित था, क्योंकि इसके भेद किए विना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी, परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है, प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है। हाँ, जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह वह निकाल शोधकर ठीक-ठीक कर दी गई है|”

परन्तु जब आप सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम और द्वितीय संस्करण को देखेंगे तो जमीन आसमान का फर्क है| मेरे पास ६८ वा संस्करण है| इसमे हुए परिवर्तन का अनुमान लगाना भी कठिन है| ऐसा लगता ही नहीं की दूसरा संस्करण प्रथम संस्करण में थोड़े बहुत भेद के साथ लिखी गई है| सत्यार्थ प्रकाश में हजारो परिवर्तन हो चुके है इसको जानने के लिए इस link पर जाये|

आज कल समाजी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका की हिंदी मानने से भी इनकार कर रहे है कहते है ये दयानंद का नहीं है पंडितो ने अनुवाद किया है| पर यह झूठ बोलकर दयानंद को नहीं बचाया जा सकता है| ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उपासना विषय में योग दर्शन के कुछ सूत्र लिखे है परन्तु उसकी व्याख्या संस्कृत में नहीं की है जबकि हिंदी में की है।

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः[योग० १.२.३०] में कुछ व्याख्या लिखी है फिर आगे लिखते है **..एषां विवरणं प्राकृतभाषषायां वक्ष्यते। = इसका विवरण प्राकृत भाषा में कहा जायेगा।**

और आगे प्राकृत अर्थात हिंदी में विवरण लिखा है, स्पष्ट है की हिंदी भी स्वामी दयानंद की है। परन्तु पंडित युधिष्ठिर मीमांसक ‘हिंदी स्वामी दयानंद ने लिखी है, ऐसा नहीं मानते। इसका कारण है कि संभवतः पंडित जी को हिंदी में बहुत गलती दिखती है।

“ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपरि-निर्दिष्ट संस्कृत पाठ और भाषा पाठ में अन्तर होने पर भी भूमिका की भाषा को ऋषि दयानन्द कृत मानने और सिद्ध करने का प्रयत्न करना बहुत से सिद्धान्त- विरुद्ध और शास्त्र विरुद्ध

- *पौराणिक पोल प्रकाश इस प्रकार के पुराण प्रमाणों से भरा पड़ा है|

लेखों का उत्तरदायित्व डालना **अप्रत्यक्ष रूप में स्वामी दयानन्द को मूर्ख सिद्ध करना है।** [प० यु० मीमांसक, दयानंद विशेषांक]

यदि तुम सत्य स्वीकार करना चाहते हो तभी यह पुस्तक तुमको मार्ग दिखा सकता है अन्यथा तुम व्यर्थ ही इसका खंडन करने का असफल प्रयास करोगे

स्वपतिं परित्यज्य यः परपुरुषं सेवते,
सुखं न लभते कदाचिद् दुःखं हि सदा विन्दते।

धिग् नियोगं धिग् पुनरपि, यत्र नास्ति धर्मपथः,
नियोगे हि निंद्यं कर्म, तस्मात् सदा त्यज्यते जनः॥

अनुवादः जो अपनी पति को छोड़कर किसी अन्य पुरुष द्वारा सेवित होती है, वह कभी भी सुख नहीं पाती, सदैव दुःख ही पाती है। नियोग को धिक्कार हो, बार-बार धिक्कार हो, जहां धर्म का पथ नहीं होता। नियोग निंदनीय कर्म है, इसलिए इसे सदैव त्यागा जाता है

विषय-सूची (पेज नंबर सहित)

पेज 1

- सम्भोग प्रकाश
- समीक्षा
- प्रथम चार दिनों का निषेध
- एकादशी और त्रयोदशी का निषेध
- सोलहवें दिन के बाद समागम निषिद्ध क्यों?

पेज 2

- वीर्य-व्यर्थता और आयु-ह्रास का सिद्धान्त
- क्या शास्त्र केवल सन्तानोत्पत्ति हेतु मैथुन का समर्थन करते हैं?
- बृहदारण्यक उपनिषद का प्रमाण (आरंभ)

पेज 3

- बृहदारण्यक उपनिषद का प्रमाण (जारी)
- मैथुन का स्वास्थ्य सम्बन्धी पक्ष
- निष्कर्ष (भाग 1)
- पुत्र-कन्या निर्धारण का सिद्धान्त

पेज 4

- समीक्षा (पुत्र-कन्या निर्धारण)
- Shettles Method और आधुनिक विज्ञान
- वैज्ञानिक दृष्टि से समस्या
- कर्मफल, लिंग-निर्धारण और दयानन्द के कथनों में विरोध

पेज 5

- विवाह की आयु सम्बन्धी मत

पेज 6

- गर्भाधान के समय वीर्य-संरक्षण सम्बन्धी कथन
- गर्भाधान की मुद्रा (Sex Position) सम्बन्धी विचार

पेज 7

- योनि-संकोच और वीर्य-आकर्षण का सिद्धान्त
- निष्कर्ष (भाग 2)

पेज 8

- आत्मा का शुक्राणु में प्रवेश
- समीक्षा
- "वीर्य का प्रक्षेप पुरुष करे"

पेज 9

- होम न करने वाला पापी
- दयानन्द और शूद्र

पेज 10

- समीक्षा (शूद्र प्रकरण)
- काशी की पाठशाला और शूद्रों के लिए वेदाध्ययन का निषेध
- विद्यानन्द सरस्वती का समाधान
- दयानन्द के व्यवहार और सिद्धान्त
- निष्कर्ष

पेज 11

- शूद्र और "दास" शब्द
- मनुस्मृति 2.31 और "जुगुप्सितम्"
- अगले श्लोक से विरोध

पेज 12

- "प्रेष्य" का अर्थ क्या है?

- क्या मनु "दास" को नहीं मानते?
- दयानन्द और सुरेन्द्र कुमार के मध्य विरोध

पेज 13

- चार सौ वर्ष की आयु
- समीक्षा
- वैदिक साहित्य में सामान्य आयु

पेज 14

- छान्दोग्य उपनिषद् का प्रश्न
- एक स्वाभाविक प्रश्न
- निष्कर्ष
- मुक्ति की अवधि और पुनर्जन्म
- समीक्षा

पेज 15

- क्या मुक्ति अनेक जन्मों में ही सम्भव है?
- सांख्य दर्शन का दृष्टिकोण
- दयानन्द के कथन की समस्या
- निष्कर्ष

पेज 16

- शिशु माँ का दूध न पिए?
- समीक्षा
- आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का मत
  - 1. माँ का दूध शिशु के लिए सर्वोत्तम आहार
  - 2. गाय या बकरी का दूध विकल्प नहीं
  - 3. स्तनपान से माता को भी लाभ
- "दूध रोकने" की सलाह

पेज 17

- स्वयं आर्यसमाजी विद्वानों की आपत्ति
- निष्कर्ष
- नियोग प्रकाश (आरंभ)

पेज 18

- नियोग प्रकाश – समीक्षा
- शास्त्रों में विधवा के लिए पुनर्विवाह का स्पष्ट उपदेश (ऋग्वेद 10.18.8)

पेज 19

- पुनर्विवाह तथा एक से अधिक स्त्री से विवाह का प्रमाण
  - राजा दशरथ की तीन पत्नी
  - अर्जुन की पत्नी चित्रांगदा

पेज 20

- अर्जुन की पत्नी उलूपी
- कृष्ण की एक से अधिक पत्नी
- विचित्रवीर्य की दो पत्नी

पेज 21

- ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ
- दूसरा विवाह करने की आज्ञा (मनुस्मृति 9.82, याज्ञवल्क्य स्मृति)

पेज 22

- दयानन्द और विधवा विवाह (आरंभ)

पेज 23-26

- दयानन्द और विधवा विवाह (विस्तार से)

पेज 27-31

- नियोग पर स्मृतियों का निषेध, देवर शब्द का अर्थ, अतरंगी भाष्य

पेज 32

- सूर्य पर मनुष्य
- दयानन्द के भाष्य में वर्णसंकर

पेज 33

- समीक्षा (वर्णसंकर)
- ब्रह्ममुनि द्वारा दयानन्द के सूक्ष्म शरीर सिद्धान्त का खण्डन

पेज 34

- ब्राह्मण ही वेद – कात्यायन, बोधायन, सत्याषाढ़, कौशिक के प्रमाण

पेज 35

- योग द्वारा दूसरे मनुष्य के शरीर में प्रवेश

पेज 36

- मूर्ति पूजा हजार हत्या के समान पाप
- प्रश्न १६ – रामलीला देखना दोष है?
- तार विद्या: वेदों में विज्ञान या आरोप?

पेज 37-39

- तार विद्या पर विस्तृत आलोचना

पेज 40

- वेदों में मिलावट – प्रक्षेप और पुनरुक्ति

पेज 41

- दयानन्द सरस्वती की अंधभक्ति वैदिक मत नहीं

पेज 42-44

- दयानन्द के अपने शब्द – "मेरा कोई स्वतन्त्र मत नहीं, मैं सर्वज्ञ नहीं"

पेज 45-46

- यजुर्वेद में मन्त्रों की संख्या, पाठभेद (यजु. 25.48)

पेज 47

- 'देवृकामा' या 'देवकामा' पाभेद

पेज 48

- दयानन्द द्वारा मनुस्मृति में 'दानेन' के स्थान पर 'ज्ञानेन' – मिलावट
- नए शास्त्र वाक्यों की रचना

पेज 49

- "मनुष्या ऋषयश्च ये, ततो मनुष्या अजायन्त" – तीन ग्रन्थों का मिश्रण

पेज 50

- योगदर्शन और आर्य समाज – सिद्धान्तों का विरोध
  - 1. भविष्य देखने की शक्ति

पेज 51

- 2. पूर्वजन्म का ज्ञान
- 3. योगदर्शन में भूत, प्रेत और ब्रह्मराक्षस

पेज 52

- 4. परशरीर प्रवेश
- 5. आकाशगमन

पेज 53

- 6. अणिमा आदि सिद्धियाँ
- निष्कर्ष

पेज 54

- आयुर्वेद – प्राचीन मान्यताएँ
- आयुर्वेद में जन्म से वर्ण

पेज 55

- मुहूर्त देखकर उपचार
- काले साँप की केचुली से उपचार

पेज 56

- गर्भधारण के अयोग्य स्त्री-पुरुष
- मनचाहा संतान पाने की निंजा तकनीक

पेज 57

- प्रमेह रोग
- यक्ष्मा रोग (क्षयरोग)

पेज 58

- यक्ष्मा रोग में गाय, भैंस, गधा आदि का मांस

पेज 59

- यक्ष्मा में मांस-मद्य का विधान, नाम बदलकर खिलाने की सलाह

पेज 60

- उन्माद, उदर, रक्त अर्श में मांसरस

पेज 61

- श्वास, खाँसी में मांसरस
- गोबर, लीद, भेड़ के मूत्र का उपयोग

पेज 62

- बकरे और ऊदबिलाव के अण्डकोष, वीर्य पीने का विधान

पेज 63

- ऋषि पराशर और व्यास – धर्म, नियोग, नैतिकता
  - पराशर और सत्यवती का प्रसंग
  - व्यास और नियोग का प्रसंग

पेज 64

- सहमति (Consent) का प्रश्न
- धर्म और नैतिकता की कसौटी
- निष्कर्ष

पेज 65

- निराकार से आकार – शब्द-व्युत्पत्ति में उलझन
- पृथ्वी भ्रमण खण्डन – दयानन्दभाष्य (यजुर्वेद 3.6)

पेज 66

- मातरम् का अर्थ – पृथ्वी या जल?
- यास्क के निरुक्त में 'गौ' का अर्थ

पेज 67

- वेदों में स्थिर पृथ्वी के प्रमाण
- शिर पर बाल रखने से बुद्धि कम होना – निराधार कथन

पेज 68

- (चित्र – बाल वाली और टकली महिला)

पेज 69

- पशु बलि – वैदिक एवं शास्त्रीय विधान
- यज्ञ में हिंसा, हिंसा नहीं (मनुस्मृति 5.39, रामानुजाचार्य, सायण)

पेज 70

- अश्वमेध – घोड़े की बलि पर दार्शनिक तर्क

पेज 71

- "न वा एतत्प्रीतिः" मन्त्र (ऋग्वेद 1.162.21) पर सायण की व्याख्या

पेज 72

- निरुक्त 1.16 – "हिंसा/अहिंसा का निर्णय वेद से"
- व्यासभाष्य (योगसूत्र 2.31) – 4 स्थान जहाँ हिंसा को अहिंसा कहा गया

पेज 73

- "अध्वर" शब्द का अर्थ – शतपथ ब्राह्मण 1.4.1.40, स्कन्द स्वामी भाष्य

पेज 74

- शास्त्रों में पशुबन्ध (पशु बलि) के प्रमाण
  - 1. कुत्ते की बलि (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 20/3)

पेज 75

- कुत्ते की बलि का विस्तृत वर्णन

पेज 76

- बकरे की बलि (तैत्तिरीय संहिता 5.5.1, यजुर्वेद 21.43)

पेज 77

- बकरे की बलि – निरुक्त 4.3, ऋग्वेद 10.27.17, अथर्ववेद 4.14

पेज 78

- घोड़े की बलि – रामायण (कौशल्या द्वारा घोड़े के टुकड़े करना)

पेज 79

- अश्वमेध यज्ञ – दशरथ का यज्ञ, घोड़े की वपा (चर्बी) पकाना

पेज 80

- शतपथ 13.2.2.16 – घोड़े के अंग काटने के छुरे, महाभारत में अश्वमेध

पेज 81

- सिन्धुघाटी की सीलों पर पशुबलि के चित्र
- शतपथ ब्राह्मण 1.2.3 – गौ, भेड़, बकरे, मनुष्य की बलि

पेज 82

- यज्ञ में अर्पित बैल खाने योग्य (आपस्तम्बधर्मसूत्र)
- ऐतरेय ब्राह्मण 2/2/1 – पशुबलि की प्रक्रिया

पेज 83

- मीमांसा सूत्र 3.6.18-20 – पशुबलि का विधान
- आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 23/12 – पुरोडाश पशु के मांस से
- गाय की बलि (अपस्तम्ब गृह्यसूत्र 8.22)

पेज 84

- ऋग्वेद 1.162.12 – ऋषियों को मांस की तलब
- दयानन्द भाष्य में दोष

पेज 85

- गाय के चमड़े पर सोमरस बनाना (निरुक्त 2/5)
- गोभिल गृहसूत्र 3.10.18-31 – गाय की बलि की विधि

पेज 86

- नरबलि – शुनःशेप की कथा (ऐतरेय ब्राह्मण 7/3)
- शतपथ 6.2.1.18 – पुरुषमेध यज्ञ
- मनु द्वारा अपनी पत्नी और बैल की बलि

पेज 87

- गोसव यज्ञ – बैल की तरह आचरण, सगोत्रा से मैथुन

पेज 88

- सौत्रामणी यज्ञ – सुरा में जंगली जानवरों के बाल मिलाकर पीना

पेज 89

- महाव्रत यज्ञ – गाली-गलौज, वैश्या से संभोग

पेज 90

- अश्वमेध यज्ञ – कुत्ते की बलि, घोड़े से रानी का संभोग

पेज 91

- अश्वमेध – दम घोंटकर बलि, रानी का घोड़े के लिंग से संयोग

पेज 92

- (अंतिम पृष्ठ – कोई नया शीर्षक नहीं)

सम्भोग प्रकाश

जैसा कि ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि

‘जैसा ऋतुगमन का विधि अर्थात् रजोदर्शन के पांचवें दिवस से लेके सोलहवें दिवस तक ऋतुदान देने का समय है उन दिनों में से प्रथम के चार दिन त्याज्य है, रहे १२ दिन, उनमें एकादशी और त्रयोदशी को छोड के बाकी १० रात्रियों में गर्भाधान करना उत्तम है। और रजोदर्शन के दिन से लेके १६वीं रात्रि को पश्चात न समागम करना।[sp2]

समीक्षा

दयानन्द के इस कथन से स्पष्ट होता है कि वे मैथुन को मुख्यतः सन्तानोत्पत्ति का साधन मानते हैं। उनके विभिन्न ग्रन्थों में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है कि यौन-संबंध का उद्देश्य प्रायः सन्तान उत्पन्न करना बताया गया है।

प्रथम चार दिनों का निषेध

रजोदर्शन के प्रारम्भिक दिनों में समागम न करने का निर्देश आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से कुछ हद तक उचित माना जा सकता है। मासिक धर्म के दौरान संक्रमण का जोखिम अपेक्षाकृत अधिक हो सकता है। उदाहरणार्थ:

“Another worry about having sex during your period is the risk of transmitting a sexually transmitted infection (STI), like hepatitis. This virus lives in blood and can be transmitted through contact with infected menstrual blood.” (Healthline)

अतः प्रथम कुछ दिनों के निषेध का जैविक आधार समझा जा सकता है।

एकादशी और त्रयोदशी का निषेध

दयानन्द द्वारा एकादशी एवं त्रयोदशी के दिनों में समागम निषिद्ध करने का आधार धार्मिक परम्परा है, न कि जीवविज्ञान। मनुस्मृति में भी अमावस्या, पूर्णिमा, अष्टमी तथा चतुर्दशी को ब्रह्मचर्य रखने का निर्देश मिलता है।

किन्तु आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे यह सिद्ध हो कि इन तिथियों में समागम करने से कोई जैविक हानि होती है। कभी-कभी चन्द्रमा और मासिक चक्र के सम्बन्ध की चर्चा की जाती है, किन्तु आधुनिक शोधों ने इस सम्बन्ध को निर्णायक रूप से सिद्ध नहीं किया है। अतः इन तिथियों का निषेध धार्मिक विश्वास पर आधारित प्रतीत होता है, वैज्ञानिक प्रमाण पर नहीं।

सोलहवें दिन के बाद समागम निषिद्ध क्यों?

महिलाओं में सामान्यतः अण्डोत्सर्जन (Ovulation) मासिक चक्र के मध्य भाग में होता है और निषेचन की संभावना उसी समय सर्वाधिक रहती है। इस कारण दयानन्द का उद्देश्य स्पष्टतः सन्तानोत्पत्ति प्रतीत होता है। सोलहवें दिन के बाद गर्भधारण की संभावना कम होने लगती है, इसलिए उन्होंने उस अवधि में समागम को निरर्थक माना।

किन्तु यहीं मूल प्रश्न उत्पन्न होता है—

क्या मैथुन केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही होना चाहिए?

वीर्य-व्यर्थता और आयु-ह्रास का सिद्धान्त

दयानन्द तर्क देते हैं कि सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त मैथुन करना अनुचित है –"वीर्य व्यर्थ जाता दोनों की आयु घट जाती है और अनेक प्रकार के रोग होते है|" [sp4]

किन्तु यह तर्क वैज्ञानिक परीक्षण में टिकता नहीं।

आधुनिक जीवविज्ञान के अनुसार प्रत्येक स्खलन में करोड़ों शुक्राणु निकलते हैं, जबकि निषेचन के लिए केवल एक शुक्राणु पर्याप्त होता है। यदि अप्रयुक्त शुक्राणुओं को "व्यर्थ" माना जाए, तो सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से किए गए मैथुन में भी लगभग सभी शुक्राणु व्यर्थ ही चले जाते हैं।

अतः "वीर्य-व्यर्थता" का तर्क स्वयं जैविक दृष्टि से दोषपूर्ण है।

इसी प्रकार यह दावा भी कि वीर्य-स्खलन से आयु घटती है, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा समर्थित नहीं है। आज तक ऐसा कोई विश्वसनीय वैज्ञानिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है जो यह सिद्ध करे कि सामान्य एवं स्वस्थ यौन-जीवन मनुष्य की आयु कम कर देता है।

इसके विपरीत अनेक अध्ययनों में संतुलित यौन-जीवन को तनाव-नियंत्रण, मानसिक स्वास्थ्य तथा दाम्पत्य-सन्तोष से जोड़ा गया है।

क्या शास्त्र केवल सन्तानोत्पत्ति हेतु मैथुन का समर्थन करते हैं?

यदि यह कहा जाए कि सम्पूर्ण भारतीय परम्परा मैथुन को केवल सन्तानोत्पत्ति तक सीमित करती है, तो यह कथन भी सही नहीं है।

चरकसंहिता में कहा गया है—

"प्रकामं च निषेवेत मैथुनं शिशिरागमे"

अर्थात् शिशिर ऋतु में इच्छा अनुसार मैथुन किया जा सकता है।

यहाँ मैथुन को केवल गर्भाधान तक सीमित नहीं किया गया, बल्कि दाम्पत्य-सुख और शारीरिक आवश्यकता के रूप में भी स्वीकार किया गया है।

चरकसंहिता के वाजीकरण अध्याय में पुरुष की मैथुन-शक्ति बढ़ाने वाले उपायों का भी वर्णन मिलता है। यदि मैथुन केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही होता, तो बार-बार मैथुन करने की क्षमता, कामोत्तेजना या मैथुन-सामर्थ्य बढ़ाने वाले उपचारों पर इतना विस्तार अनावश्यक होता।

बृहदारण्यक उपनिषद का प्रमाण

बृहदारण्यक उपनिषद में दो पृथक विधान मिलते हैं।

एक स्थान पर कहा गया है कि यदि पुरुष चाहता है कि स्त्री गर्भ धारण न करे, तो वह एक विशेष विधि अपनाए।[बृहदारण्यक उपनिषद् 6.4.10]

दूसरे स्थान पर कहा गया है कि यदि पुरुष चाहता है कि स्त्री गर्भ धारण करे, तो दूसरी विधि अपनाए।[बृहदारण्यक उपनिषद् 6.4.11]

यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि उपनिषद स्वयं गर्भधारण की इच्छा और गर्भधारण न करने की इच्छा—दोनों स्थितियों की चर्चा करता है।

यदि मैथुन केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही वैध माना जाता, तो गर्भधारण न करने की स्थिति के लिए अलग विधान की आवश्यकता ही नहीं होती।

मैथुन का स्वास्थ्य सम्बन्धी पक्ष

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मैथुन को केवल प्रजनन की क्रिया नहीं मानता। यह भावनात्मक निकटता, मानसिक संतुलन, दाम्पत्य-सन्तोष तथा शारीरिक सुख से भी सम्बन्धित है।

अनेक अध्ययनों में यह पाया गया है कि संतुलित यौन-जीवन तनाव को कम करने, मनोवैज्ञानिक संतुष्टि बढ़ाने तथा वैवाहिक सम्बन्धों को मजबूत करने में सहायक हो सकता है।

निष्कर्ष

दयानन्द का यह मत कि मैथुन मुख्यतः या केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए होना चाहिए तथा वीर्य-स्खलन से आयु घटती है, आधुनिक जीवविज्ञान और चिकित्सा विज्ञान द्वारा समर्थित नहीं है।

स्वयं भारतीय परम्परा के अनेक ग्रन्थ भी यह संकेत करते हैं कि मैथुन का उद्देश्य केवल प्रजनन नहीं, बल्कि दाम्पत्य-सुख, काम-सन्तोष तथा शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी हो सकता है।

अतः मैथुन को केवल सन्तानोत्पत्ति तक सीमित कर देना न तो वैज्ञानिक दृष्टि से उचित है और न ही उपलब्ध शास्त्रीय साक्ष्यों के समग्र अध्ययन से सिद्ध होता है।

पुत्र-कन्या निर्धारण का सिद्धान्त

दयानन्द लिखते हैं—

"जिनको पुत्र की इच्छा हो वे छठी, आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं रात्रि में गर्भाधान करें तथा जिनको कन्या की इच्छा हो वे पाँचवीं, सातवीं, नवमी और पन्द्रहवीं रात्रि को गर्भाधान करें।"
— (मनुस्मृति 3.48, सं०वि० गर्भाधानप्रकरण, सुश्रुत शरीरस्थान 2)

समीक्षा

ऐसी धारणा केवल दयानन्द तक सीमित नहीं है। अनेक सनातन ग्रन्थों और संस्कार-ग्रन्थों में भी यह दावा मिलता है कि सम रात्रियों में गर्भाधान करने से पुत्र तथा विषम रात्रियों में गर्भाधान करने से कन्या उत्पन्न होती है।

किन्तु आधुनिक आनुवंशिकी (Genetics) के अनुसार यह सिद्धान्त असत्य है।

मनुष्य में स्त्री के अण्डाणु (Egg) में सदैव X गुणसूत्र (Chromosome) होता है, जबकि पुरुष के शुक्राणुओं में या तो X गुणसूत्र होता है अथवा Y गुणसूत्र। यदि X-युक्त शुक्राणु अण्डाणु का निषेचन करे तो XX संयोजन बनता है और कन्या जन्म लेती है। यदि Y-युक्त शुक्राणु अण्डाणु का निषेचन करे तो XY संयोजन बनता है और पुत्र जन्म लेता है।

अतः संतान का लिंग अन्ततः उस शुक्राणु पर निर्भर करता है जो अण्डाणु का निषेचन करता है, न कि इस बात पर कि गर्भाधान पाँचवीं, सातवीं, आठवीं या चौदहवीं रात्रि में हुआ।

Shettles Method और आधुनिक विज्ञान

बीसवीं शताब्दी में डॉ. लैंड्रम शेटल्स (Landrum B. Shettles) ने भी इसी प्रकार का एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसे "Shettles Method" कहा जाता है। उनका दावा था कि सम्भोग के समय, स्थिति (sexual position), योनि की अम्लीयता (pH) तथा अण्डोत्सर्जन (ovulation) के समय के आधार पर पुत्र अथवा पुत्री प्राप्ति की संभावना बढ़ाई जा सकती है।

इस पद्धति को अनेक लोगों ने अपनाया और इसकी लोकप्रियता भी हुई। किन्तु वैज्ञानिक परीक्षणों में यह सिद्धान्त सफल सिद्ध नहीं हुआ।

1991 में प्रकाशित विभिन्न अध्ययनों की समीक्षा (review) में शेटल्स के दावों का समर्थन नहीं मिला। इसके अतिरिक्त 2001 के शोध ने यह भी दर्शाया कि X और Y शुक्राणुओं के आकार-प्रकार में वह अन्तर नहीं पाया जाता जिसका दावा शेटल्स ने किया था। बाद के अध्ययनों ने भी उनके निष्कर्षों की पुष्टि नहीं की।

2021 में Fertility and Sterility पत्रिका में प्रकाशित एक लेख ने भी उल्लेख किया कि पिछले कई दशकों से वैज्ञानिक शोध लगातार Shettles Method के दावों का खण्डन करते रहे हैं।

आज की वैज्ञानिक सहमति (scientific consensus) यह है कि प्राकृतिक गर्भाधान के माध्यम से केवल सम्भोग के समय या तिथि के आधार पर पुत्र अथवा पुत्री सुनिश्चित करना सम्भव नहीं है। वर्तमान में भ्रूण के लिंग का विश्वसनीय निर्धारण केवल IVF के साथ प्रयुक्त Preimplantation Genetic Diagnosis (PGD) जैसी तकनीकों द्वारा ही सम्भव है।

वैज्ञानिक दृष्टि से समस्या

यदि यह सिद्धान्त सत्य होता कि सम रात्रियों में पुत्र और विषम रात्रियों में कन्या उत्पन्न होती है, तो प्रत्येक बार परिणाम एक जैसा आना चाहिए था। विज्ञान में किसी सिद्धान्त की वैधता तभी स्वीकार की जाती है जब नियंत्रित परिस्थितियों में बार-बार परीक्षण करने पर समान परिणाम प्राप्त हों।

किन्तु न तो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान, न आनुवंशिकी और न ही जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़े इस दावे की पुष्टि करते हैं। संसार भर में करोड़ों जन्मों के अध्ययन के पश्चात भी ऐसा कोई वैज्ञानिक प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है जिससे यह सिद्ध हो कि मासिक चक्र की किसी विशेष रात्रि में गर्भाधान करने से पुत्र अथवा पुत्री का जन्म सुनिश्चित किया जा सकता है।

अतः सम और विषम रात्रियों के आधार पर पुत्र या कन्या प्राप्ति का सिद्धान्त धार्मिक अथवा पारम्परिक विश्वास तो हो सकता है, किन्तु इसे वैज्ञानिक तथ्य नहीं कहा जा सकता।

कर्मफल, लिंग-निर्धारण और दयानन्द के कथनों में विरोध

स्वामी दयानन्द एक स्थान पर लिखते हैं—

"जो स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो स्त्री और पुरुष के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है।"[sp9]

अर्थात् जीव अपने कर्मों के अनुसार स्त्री अथवा पुरुष शरीर प्राप्त करता है।

किन्तु दूसरी ओर गर्भाधान प्रकरण में यह कहा गया है कि सम रात्रियों में गर्भाधान करने से पुत्र तथा विषम रात्रियों में गर्भाधान करने से कन्या उत्पन्न होती है।

यदि यह मान लिया जाए कि विशेष तिथियों में गर्भाधान करके पुत्र अथवा पुत्री प्राप्त की जा सकती है, तो फिर कर्मफल का सिद्धान्त गौण हो जाता है। उस स्थिति में बच्चे का लिंग उसके कर्मों से नहीं, बल्कि माता-पिता द्वारा चुनी गई रात्रि से निर्धारित होगा।

यहाँ स्पष्ट प्रश्न उत्पन्न होता है कि अन्ततः लिंग का निर्धारण किससे होता है—कर्मफल से अथवा गर्भाधान की तिथि से?

यदि कर्मफल निर्णायक है तो सम-विषम रात्रियों का सिद्धान्त निरर्थक हो जाता है। और यदि सम-विषम रात्रियाँ निर्णायक हैं तो कर्मफल का सिद्धान्त अप्रासंगिक हो जाता है। दोनों को एक साथ सत्य नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त यदि वास्तव में सम रात्रियों में पुत्र तथा विषम रात्रियों में पुत्री प्राप्त करने का कोई विश्वसनीय नियम होता, तो मानव समाज का लिंगानुपात (sex ratio) बहुत पहले ही असन्तुलित हो गया होता। इतिहास में अनेक समाजों में पुत्र-प्राथमिकता (son preference) रही है। यदि यह विधि वास्तव में कार्य करती, तो लोग कन्या की अपेक्षा पुत्र प्राप्त करने के लिए इसी उपाय का प्रयोग करते और परिणामस्वरूप जनसंख्या में स्त्रियों की संख्या अत्यन्त कम हो जाती। किन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ।

यह तथ्य स्वयं इस सिद्धान्त की व्यावहारिक असफलता को दर्शाता है।

विवाह की आयु सम्बन्धी मत

स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

"चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह उत्तम है।"(sp4)

यह कथन कई प्रश्न उत्पन्न करता है।

प्रथम, इस वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार क्या है?

द्वितीय, यदि चौबीस वर्षीय स्त्री और अड़तालीस वर्षीय पुरुष का विवाह "उत्तम" है, तो ऐसा क्यों है? इसके समर्थन में कोई चिकित्सीय, मनोवैज्ञानिक अथवा सामाजिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया।

आधुनिक समाजशास्त्र और मनोविज्ञान में सफल वैवाहिक जीवन के लिए परस्पर समझ, भावनात्मक सामंजस्य, जीवन-लक्ष्यों की समानता तथा सामाजिक परिस्थितियों को अधिक महत्व दिया जाता है, न कि केवल आयु के बड़े अन्तर को।

इसके अतिरिक्त यदि कोई सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप से श्रेष्ठ माना जाता है, तो उसके पक्ष में वस्तुनिष्ठ प्रमाण अपेक्षित होते हैं। केवल किसी ग्रन्थ में उसका उल्लेख होना पर्याप्त नहीं माना जा सकता।

“**चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह उत्तम है।;** पता नहीं स्वामी जी ने इस प्रकार के विवाह को उत्तम क्या सोच के लिखा है? समाजियों को दूसरो के सामने इसको सही सिद्ध करने से पहले अपने घर की २४ वर्ष की बहन बेटियों का विवाह ४८ वर्ष के पुरुष से करना चाहिए तब आकर दुनिया के सामने इसको सही बोले। आर्य समाजी स्वयं कितना स्वामी दयानंद का अनुसरण करते है, इसका प्रमाण तो देना ही होगा। विवाह तो विवाह होता है, इसमे उत्तम, मध्यम और निम्न कैसा? २० वर्ष की स्त्री का विवाह ४० वर्ष के पुरुष से जो करता है वह मध्यम है। समाजी लोग इसका अनुसरण करे तब दुसरे लोगो को ज्ञान दे।

तुम तो अपने आप को बड़े तार्किक कहते हो और शास्त्रों की तो दुहाई देना ही मत की शास्त्रों में लिखा हुआ है इसीलिए मानते हैं, क्योंकि शास्त्रों को तुम अपने हिसाब से मानते हो। जो तुमको ठीक लगता है उसको मानते हो, जो तुमको ठीक नहीं लगता उसको मिलावट बोलते हो। अपनी पुत्री की उम्र की स्त्री से विवाह करते लज्जा आनी चाहिए। यदि शास्त्रों में लिखा भी हुआ है तो तुम तो उसे आसानी से मिलावट बोल सकते थे। लेकिन तुमने यहाँ मिलावट नहीं बोला। इसका केवल एक कारण है, क्योकि दयानंद ने इसकी सम्मति दी है

गर्भाधान के समय वीर्य-संरक्षण सम्बन्धी कथन

स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

"जहाँ तक बने वहाँ तक ब्रह्मचर्य के वीर्य को व्यर्थ न जाने दें क्योंकि उस वीर्य वा रज से जो शरीर उत्पन्न होता है वह अपूर्व उत्तम सन्तान होता है।" [sp4]

यह कथन आधुनिक शरीर-विज्ञान (Physiology) से मेल नहीं खाता।

मानव शरीर निरन्तर शुक्राणुओं का निर्माण करता रहता है। जो शुक्राणु प्रयोग में नहीं आते, वे शरीर द्वारा पुनः अवशोषित (reabsorbed) कर लिए जाते हैं अथवा समय के साथ नष्ट हो जाते हैं। शरीर में अनन्त मात्रा में वीर्य संचय नहीं होता।

इसलिए केवल वीर्य को अधिक समय तक रोककर रखने से "अपूर्व उत्तम सन्तान" उत्पन्न होगी, ऐसा कोई वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

गर्भाधान की मुद्रा (Sex Position) सम्बन्धी विचार

स्वामी दयानन्द गर्भाधान के समय मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिका तथा शरीर को स्थिर रखने का निर्देश देते हैं। अपने वेदभाष्य में वे आगे यह भी लिखते हैं कि ऐसा करने से वक्राङ्ग अथवा कुरूप सन्तान उत्पन्न नहीं होती।

> जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो उस समय स्त्री और पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्नचित्त रहें, डिगें नहीं। पुरुष अपने शरीर को ढीला छोडे और स्त्री वीर्य्यप्राप्ति समय अपान वायु को ऊपर खींचे , योनि को ऊपर संकोच कर वीर्य्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थित करे। पश्चात् दोनों शुद्ध जल से स्नान करें।' sp4
>
> स्त्री-पुरुष गर्भाधान के समय में परस्पर मिल कर प्रेम से पूरित होकर मुख के साथ मुख, आंख के साथ आंख, मन के साथ मन, शरीर के साथ शरीर का अनुसंधान करके गर्भ को धारण करें, जिससे कुरूप वा वक्राङ्ग सन्तान न होवे|[यजुर्वेद - अध्याय » 19; मन्त्र » 88]

किन्तु इस दावे के समर्थन में कोई वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

आधुनिक भ्रूणविज्ञान (Embryology) के अनुसार बच्चे की शारीरिक बनावट मुख्यतः आनुवंशिकी (Genetics), भ्रूण-विकास, पोषण तथा गर्भावस्था के दौरान विभिन्न जैविक कारकों पर निर्भर करती है। सम्भोग के समय माता-पिता की मुद्रा से बच्चे के सुन्दर या कुरूप होने का कोई ज्ञात सम्बन्ध नहीं है।

इसी प्रकार आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी कोई ऐसी यौन-मुद्रा (sex position) ज्ञात नहीं है जो गर्भधारण की सम्भावना को निर्णायक रूप से बढ़ाती हो।

अतः यह निष्कर्ष कि किसी विशेष मुद्रा से सुन्दर सन्तान और अन्य मुद्राओं से वक्राङ्ग सन्तान उत्पन्न होगी, वैज्ञानिक दृष्टि से असिद्ध है।

योनि-संकोच और वीर्य-आकर्षण का सिद्धान्त

स्वामी दयानन्द स्त्री को निर्देश देते हैं कि वह योनि का संकोच करके वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षित करे और गर्भाशय में स्थापित करे।

किन्तु गर्भधारण की प्रक्रिया स्त्री की इच्छा से किए गए ऐसे यांत्रिक प्रयासों पर निर्भर नहीं करती।

गर्भधारण तब होता है जब शुक्राणु स्वाभाविक रूप से गर्भाशय तथा फैलोपियन नलिकाओं तक पहुँचकर अण्डाणु का निषेचन करते हैं। इसके लिए किसी विशेष योनि-संकोच अथवा "वीर्य को ऊपर खींचने" की क्रिया आवश्यक नहीं मानी जाती।

विश्वभर में अरबों मनुष्यों का जन्म बिना ऐसी किसी विधि के पालन के हुआ है। इसलिए इस प्रकार के निर्देशों को वैज्ञानिक तथ्य नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष

उपरोक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि गर्भाधान, सन्तान के लिंग-निर्धारण, सन्तान के रूप-रंग तथा गर्भधारण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत अनेक धारणाएँ आधुनिक आनुवंशिकी, भ्रूणविज्ञान तथा चिकित्सा विज्ञान के निष्कर्षों से मेल नहीं खातीं।

किसी ऐतिहासिक ग्रन्थ का मूल्यांकन करते समय उसके कथनों को आधुनिक ज्ञान की कसौटी पर परखना आवश्यक है। जहाँ कोई दावा वैज्ञानिक परीक्षण में असफल सिद्ध हो जाए, वहाँ उसे परम्परागत विश्वास अथवा अंधविश्वास के रूप में देखा जा सकता है, किन्तु वैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आत्मा का शुक्राणु में प्रवेश

स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

"जो पूर्वजन्म में किए हुए पाप-पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है, वह पूर्व शरीर को छोड़कर वायु के साथ रहता है, पुनः जल, ओषधि, प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है, तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थित होकर पुनः जन्म लेता है।" — (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

समीक्षा

यह कथन इस धारणा पर आधारित है कि जीवात्मा गर्भधारण से पूर्व शुक्राणु (sperm) में प्रवेश करती है और उसके माध्यम से गर्भाशय तक पहुँचती है।

किन्तु आधुनिक जीवविज्ञान में ऐसी किसी सत्ता का कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसे आत्मा कहकर पहचाना जा सके। इसलिए यह कथन वैज्ञानिक परीक्षण के क्षेत्र से बाहर एक दार्शनिक अथवा धार्मिक विश्वास मात्र है।

इसके अतिरिक्त यह धारणा स्वयं कई प्रश्न उत्पन्न करती है।

यदि प्रत्येक शुक्राणु में आत्मा प्रवेश करती है, तो एक सामान्य स्खलन में करोड़ों शुक्राणु निकलते हैं। क्या प्रत्येक शुक्राणु में अलग-अलग आत्मा उपस्थित होती है? यदि नहीं, तो आत्मा विशेष रूप से किस शुक्राणु में प्रवेश करती है और क्यों?

आधुनिक जैव-प्रौद्योगिकी ने ऐसे उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं जहाँ पारम्परिक निषेचन (fertilization) के बिना भी जीवों का निर्माण सम्भव हुआ है। उदाहरणार्थ, Somatic Cell Nuclear Transfer (SCNT) जैसी तकनीकों में सामान्य शुक्राणु-अण्डाणु निषेचन की प्रक्रिया आवश्यक नहीं होती।

यदि भविष्य में या वर्तमान जैविक प्रयोगों में शुक्राणु की भूमिका के बिना भी जीवधारी उत्पन्न किए जा सकते हैं, तो आत्मा के "शुक्राणु में प्रवेश" का सिद्धान्त और भी जटिल प्रश्नों को जन्म देता है।

अतः यह विचार वैज्ञानिक तथ्य की अपेक्षा एक धार्मिक-दार्शनिक परिकल्पना अधिक प्रतीत होता है।

"वीर्य का प्रक्षेप पुरुष करे"

संस्कार-विधि में लिखा है—

"वीर्य का प्रक्षेप पुरुष करे।" [संस्कार विधि, गर्भाधानप्रकरणम्]

यह कथन विशेष ध्यान आकर्षित करता है।

सामान्य जैविक ज्ञान के अनुसार वीर्य-स्खलन पुरुष की शारीरिक प्रक्रिया है। इसलिए यह कहना कि "वीर्य का प्रक्षेप पुरुष करे" वैसा ही प्रतीत होता है जैसे कहा जाए कि मनुष्य पैरों से चले अथवा पक्षी पंखों से उड़ें।

यहाँ कोई नई जानकारी, विशेष निर्देश या विशिष्ट ज्ञान प्रदान नहीं किया जा रहा। यह एक ऐसी बात का कथन है जो स्वाभाविक रूप से पहले से ही स्पष्ट है।

यदि किसी ग्रन्थ में किसी विषय पर निर्देश दिए जाएँ, तो उनसे ऐसी जानकारी की अपेक्षा की जाती है जो सामान्य अनुभव से परे हो या जिसका कोई व्यावहारिक महत्व हो। किन्तु इस प्रकार के कथन केवल अनावश्यक विस्तार (redundancy) प्रतीत होते हैं।

इसी कारण यह प्रश्न उठता है कि ऐसी स्वयंसिद्ध (self-evident) बात को विशेष रूप से लिखने की आवश्यकता क्या थी।

होम न करने वाला पापी

स्वामी जी ने होम न करने वाले को पापी कहा है। [sp3] अब बताओ कोई व्यक्ति जिसने कभी होम न किया लेकिन जीवन में परोपकार और पुण्य कार्य किया हो वो पापी हो गया?

अनुशीलन- कोई पाप नहीं है। लेकिन इससे वायु शुद्ध होती है ये कहना पूरी तरह से सही नहीं है क्योकि दहन से प्रदुषण होता है अर्थात इसमे O2 खर्च होती है। यदि आप यज्ञ इसीलिए करते हो ताकि हवा में oxygen की मात्रा बढे और हवा शुद्ध हो तो आप algae लगाओ, यज्ञ मत करो

Scientists estimate that algae produce around 70% of the oxygen in the Earth's atmosphere [source]

दयानन्द और शूद्र

स्वामी दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश में सुश्रुत का यह वचन उद्धृत करते हैं—

"ब्राह्मण तीनों वर्णों को, क्षत्रिय दो वर्णों को तथा वैश्य वैश्य वर्ण को उपनयन कराकर पढ़ा सकता है। शूद्र यदि कुलीन और सद्गुणयुक्त हो तो उसे मन्त्रसंहिता को छोड़कर अन्य शास्त्र पढ़ाए जाएँ।"

इसके पश्चात् वे लिखते हैं—

"शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्यों का है।"

समीक्षा

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि "शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे" स्वामी दयानन्द का स्वतन्त्र कथन नहीं है, बल्कि सुश्रुत के वचन में आए "इत्येके" पद की व्याख्या है, जिसका अर्थ है—"यह कुछ आचार्यों का मत है।"

किन्तु प्रश्न यह है कि यदि दयानन्द इस मत से सहमत नहीं थे, तो उन्होंने इसे अपने ग्रन्थ में प्रमाणरूप से उद्धृत करने के बाद उसका स्पष्ट खण्डन क्यों नहीं किया?

यहीं से समस्या प्रारम्भ होती है।

काशी की पाठशाला और शूद्रों के लिए वेदाध्ययन का निषेध

इस प्रश्न को और जटिल बना देने वाला एक ऐतिहासिक तथ्य भी उपलब्ध है।

सन् 1874 में काशी स्थित आर्य विद्यालय के लिए प्रकाशित विज्ञापन में दयानन्द ने लिखा—

"ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेदपर्यन्त पढ़ेंगे और शूद्र मन्त्रभाग को छोड़कर सब शास्त्र पढ़ेंगे।"

यह कथन स्पष्ट रूप से शूद्रों के लिए वेदाध्ययन पर प्रतिबन्ध का संकेत देता है।

किन्तु दूसरी ओर सत्यार्थ प्रकाश में दयानन्द लिखते हैं—

"सब स्त्रियों और पुरुषों अर्थात् मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने का अधिकार है।"

और आगे—

"यदि परमेश्वर शूद्रों को वेद पढ़ाना न चाहता, तो उन्हें वाणी और श्रवण-इन्द्रियाँ ही क्यों देता?"

यहाँ स्पष्ट विरोधाभास दिखाई देता है।

एक ओर शूद्रों को वेदाध्ययन से वंचित किया जा रहा है, दूसरी ओर यह कहा जा रहा है कि सभी मनुष्यों को वेद पढ़ने का अधिकार है।

यदि सभी मनुष्यों को वेदाध्ययन का अधिकार है, तो काशी की पाठशाला में शूद्रों को मन्त्रभाग से वंचित क्यों रखा गया?

और यदि शूद्रों को मन्त्रभाग से वंचित रखना उचित था, तो फिर सत्यार्थ प्रकाश में सार्वभौमिक वेदाधिकार का प्रतिपादन क्यों किया गया?

विद्यानन्द सरस्वती का समाधान

इस विरोधाभास की ओर स्वयं आर्यसमाज के विद्वान स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने भी ध्यान आकर्षित किया है। उन्होंने लिखा—

"यह अंश विवेच्य है। शूद्र के प्रति यह भेदभाव क्यों? सबके समान योग्यता प्राप्त तथा सकल शास्त्र निष्णात होने पर भी केवल शूद्र होने के कारण वेदाध्ययन पर प्रतिबन्ध क्यों?"(सत्यार्थ भास्कर)

उन्होंने सम्भावना व्यक्त की कि काशी की परिस्थितियों में पाठशाला चलाने के लिए दयानन्द ने तत्कालीन पण्डितों के साथ व्यावहारिक समझौता किया हो।

किन्तु यह स्पष्टीकरण सर्वथा संतोषजनक प्रतीत नहीं होता।

दयानन्द वही व्यक्ति थे जिन्होंने काशी जैसे परम्परावादी केन्द्र में मूर्तिपूजा का खुला विरोध किया, शास्त्रार्थ किए और सामाजिक प्रतिरोध की परवाह नहीं की। यदि वे वास्तव में शूद्रों के वेदाधिकार के पक्षधर थे, तो इस विषय पर समझौता करना उनके व्यक्तित्व के अनुरूप प्रतीत नहीं होता।

दयानन्द के व्यवहार और सिद्धान्त

समस्या केवल ग्रन्थों तक सीमित नहीं है।

दयानन्द के जीवनवृत्त से ऐसे उल्लेख भी प्राप्त होते हैं जिनमें वे निम्न जातियों के सम्बन्ध में पारम्परिक दृष्टिकोण अपनाते हुए दिखाई देते हैं।

उदाहरणार्थ, स्वामी लेखराम द्वारा लिखित जीवनी में वर्णन मिलता है कि दयानन्द निम्न जाति की स्त्री को उच्चवर्णीय परिवारों में धात्री (nurse) के रूप में रखने के विरोधी थे। इसी प्रकार यह भी उल्लेख मिलता है कि वे भोजन प्रायः ब्राह्मण के हाथ का बना हुआ ग्रहण करते थे।

यदि ये विवरण ऐतिहासिक रूप से सही माने जाएँ, तो प्रश्न उठता है कि दयानन्द के सिद्धान्त और व्यवहार में कितना सामंजस्य था।

निष्कर्ष

दयानन्द के साहित्य में शूद्रों के विषय में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं।

पहली प्रवृत्ति यह है कि वे जन्माधारित जाति-व्यवस्था की आलोचना करते हैं, शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार देते हैं और वर्ण को कर्माधारित मानते हैं।

दूसरी प्रवृत्ति यह है कि कुछ स्थानों पर वे ऐसे उद्धरणों और व्यवस्थाओं का समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं जिनमें शूद्रों के लिए वेदाध्ययन या उपनयन पर प्रतिबन्ध का संकेत मिलता है।

इन दोनों प्रवृत्तियों को साथ रखकर देखने पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि दयानन्द का अन्तिम और वास्तविक मत क्या था। क्या केवल शुद्रो को साथ में लेने के लिए या ढोंग किया गया?

शूद्र और "दास" शब्द

स्वामी दयानन्द नामकरण संस्कार के विषय में लिखते हैं—

“देव अथवा जयदेव। ब्राह्मण हो तो देवशर्मा, क्षत्रिय हो तो देववर्मा, वैश्य हो तो देवगुप्त और शूद्र हो तो देवदास इत्यादि” [संस्कार विधि, नामाकरणप्रकरणम्]
“जैसे ब्राह्मण का नाम विष्णुशर्मा, क्षत्रिय का विष्णु वर्मा, वैश्य का विष्णुगुप्त और शूद्र का विष्णुदास, इस प्रकार नाम रखना चाहिये। जो कोई द्विज शूद्र बनना चाहे तो अपना नाम दास शब्दान्त धर ले।'(ऋ०प०वि० ३४९)

यहाँ दयानन्द स्पष्ट रूप से शूद्रों के लिए "दास" शब्दान्त नामों का समर्थन करते हैं।

मनुस्मृति 2.31 और "जुगुप्सितम्"

मनुस्मृति 2.31 में कहा गया है—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥

परम्परागत टीकाकारों ने "जुगुप्सितम्" का अर्थ निन्दित, तिरस्कृत अथवा हीन भाववाचक माना है।

उदाहरणार्थ, मेधातिथि लिखते हैं—

"शूद्रस्य जुगुप्सितम् — कृपणकः, दीनः, शबरकः इत्यादि।"

कुल्लूकभट्ट भी इसी प्रकार का अर्थ करते हैं।

किन्तु सुरेन्द्र कुमार ने "जुगुप्सितम्" का अर्थ "रक्षणीय, पालनीय, आश्रय देने योग्य" किया है।

उनका तर्क है कि यह शब्द "गुप् (रक्षणे)" धातु से बना है।

किन्तु समस्या यह है कि "गुप्" धातु केवल "रक्षा" अर्थ में ही नहीं, बल्कि "निन्दा" अर्थ में भी प्रयुक्त होती है—

गुप् — गोपने, निन्दायां च।

इसी कारण "जुगुप्सा" शब्द का अर्थ संस्कृत कोशों में घृणा, निन्दा, तिरस्कार आदि भी दिया गया है।

अगले श्लोक से विरोध

सुरेन्द्र कुमार का अर्थ एक अन्य कारण से भी संदिग्ध प्रतीत होता है।

मनुस्मृति 2.32 में कहा गया है—

राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्॥

यदि 2.31 में ही शूद्र के लिए "रक्षणीय" अथवा "पालनीय" अर्थ स्वीकार कर लिया जाए, तो 2.32 में क्षत्रिय के लिए पुनः "रक्षा" सम्बन्धी नाम रखने का निर्देश अनावश्यक हो जाता है।

अतः प्रसंग की दृष्टि से भी "जुगुप्सितम्" का अर्थ "रक्षणीय" करना स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता।

"प्रेष्य" का अर्थ क्या है?

सुरेन्द्र कुमार 2.32 में "प्रेष्यसंयुतम्" का अर्थ "सेवकत्व भाववाला" करते हैं।

किन्तु अन्यत्र वे स्वयं "प्रेष्य" का अर्थ "दास" स्वीकार करते हैं।

उदाहरण—

- "प्रेष्यानू" = सेवक या दास (8.102)
- "शत्रुषु प्रेष्यतां यान्ति" = शत्रुओं के यहाँ दास बनते हैं (12.70)
- "परप्रेष्यत्वम्" = दूसरों के दास होना (12.78)

अर्थात् जहाँ प्रसंग सामान्य है, वहाँ "प्रेष्य" का अर्थ दास स्वीकार किया जाता है; किन्तु शूद्र सम्बन्धी प्रसंग आने पर उसका अर्थ बदल दिया जाता है।

यह व्याख्या-पद्धति प्रश्न उत्पन्न करती है।

क्या मनु "दास" को नहीं मानते?

सुरेन्द्र कुमार लिखते हैं—

"मनु 'दास' का अस्तित्व नहीं मानते।"

किन्तु मनुस्मृति में स्वयं अनेक स्थानों पर "दास" शब्द आता है—

- एते सप्त दासयोनयः (8.415)
- भार्या पुत्रश्च दासः (8.416)
- दास्यां वा दासदास्यां वा (9.179)
- दासमार्गवं सूते (10.34)

इन श्लोकों में "दास" शब्द का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से हुआ है।

अतः केवल यह कहना कि मनु "दास" का अस्तित्व नहीं मानते, ग्रन्थ के उपलब्ध पाठ से मेल नहीं खाता।

दयानन्द और सुरेन्द्र कुमार के मध्य विरोध

सबसे रोचक तथ्य यह है कि स्वयं दयानन्द शूद्रों के लिए "देवदास", "विष्णुदास" जैसे नामों का समर्थन करते हैं।

अतः यदि "दास" शब्द को शूद्र के नाम का अंग मानना ही गलत या प्रक्षिप्त माना जाए, तो यह आपत्ति केवल मनुस्मृति पर नहीं, दयानन्द की अपनी व्याख्या पर भी लागू होगी।

यही कारण है कि यहाँ प्रश्न केवल मनुस्मृति के अर्थ का नहीं, बल्कि दयानन्द और उनके आधुनिक व्याख्याताओं के बीच सामंजस्य का भी है।

चार सौ वर्ष की आयु

स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

"वे सन्तान आप ही आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें।"
— (सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदसंज्ञाविचार)

समीक्षा

यहाँ स्वामी दयानन्द ने अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य की आयु चार सौ वर्ष तक होने की बात कही है।

प्रश्न यह है कि इस कथन का आधार क्या है?

आधुनिक जीवविज्ञान (Biology), चिकित्सा विज्ञान (Medical Science) तथा जनसांख्यिकीय अध्ययन (Demography) में आज तक ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि कोई मनुष्य चार सौ वर्ष तक जीवित रह सकता है। वर्तमान वैज्ञानिक अभिलेखों में सत्यापित सबसे अधिक आयु लगभग 122 वर्ष के आसपास पाई गई है। इसके आगे की आयु के दावे प्रमाणित नहीं हो सके हैं।

यदि ब्रह्मचर्य के पालन मात्र से चार सौ वर्ष की आयु सम्भव होती, तो इतिहास में इसके प्रत्यक्ष उदाहरण मिलने चाहिए थे। विशेषकर उन व्यक्तियों में जिन्होंने जीवनभर ब्रह्मचर्य का पालन किया। किन्तु ऐसा कोई विश्वसनीय उदाहरण उपलब्ध नहीं है। जबकि कुछ ऐसे उदाहरण अवश्य मौजूद है जिसमे व्यक्ति जीवन भर ब्रह्मचर्य करने के बाद भी अल्पायु में मृत्यु को प्राप्त हो गए|

वैदिक साहित्य में सामान्य आयु

वैदिक और उपनिषद् साहित्य में अनेक स्थानों पर मनुष्य की आयु सौ वर्ष के आसपास मानी गई है—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।"
— यजुर्वेद 40.2

"शतायुर्वै पुरुषः।"
— ऐतरेय ब्राह्मण

"शतं जीवेम शरदः।"
— वैदिक प्रार्थनाओं में अनेक स्थानों पर

शंकराचार्य भी यजुर्वेद 40.2 की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"पुरुष की बड़ी से बड़ी आयु सौ वर्ष कही गई है।"

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक परम्परा में सामान्य मानवीय आयु का आदर्श सौ वर्ष के आसपास माना गया है।

छान्दोग्य उपनिषद् का प्रश्न

स्वामी दयानन्द ने छान्दोग्य उपनिषद् (3.16.1–7) के आधार पर चार सौ वर्ष की आयु का समर्थन करने का प्रयास किया है।

किन्तु उक्त प्रकरण में प्रत्यक्ष रूप से कहीं भी यह नहीं कहा गया कि मनुष्य की आयु चार सौ वर्ष होती है अथवा ब्रह्मचर्य द्वारा चार सौ वर्ष तक बढ़ाई जा सकती है।

अतः यह प्रश्न उठता है कि चार सौ वर्ष का निष्कर्ष मूल पाठ से कैसे निकाला गया।

यदि निष्कर्ष स्वयं भाष्यकार द्वारा आरोपित है और मूल ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से उपस्थित नहीं है, तो उसकी प्रामाणिकता स्वतः विवाद का विषय बन जाती है।

एक स्वाभाविक प्रश्न

इस सम्बन्ध में करपात्री जी महाराज ने एक रोचक प्रश्न उठाया है—

"मंत्र की व्याख्या करते हुए दयानंद ने जो कहा है कि देवो अर्थात विद्वानों की दो प्रकार के प्रभाव वाली तीन गुनी आयु होती है। इसके उत्तर में हमारा कहना है कि दयानंद विद्वान थे कि नहीं?, यदि थे तो वे 300 वर्ष तक जीवित क्यों न रहे? यदि विद्वान नहीं थे तो उनका भाष्य कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है|"

निष्कर्ष

चार सौ वर्ष की आयु का दावा न तो आधुनिक विज्ञान द्वारा समर्थित है और न ही इसके समर्थन में कोई सत्यापित ऐतिहासिक उदाहरण उपलब्ध है। वैदिक साहित्य के अधिकांश स्थलों में भी मनुष्य की आदर्श आयु सौ वर्ष के आसपास ही वर्णित मिलती है।

अतः अखण्ड ब्रह्मचर्य द्वारा चार सौ वर्ष तक जीवित रहने का कथन एक असाधारण दावा है, जिसके समर्थन में असाधारण प्रमाण अपेक्षित हैं। जब तक ऐसे प्रमाण उपलब्ध न हों, इसे एक धार्मिक या दार्शनिक विश्वास के रूप में देखा जा सकता है, न कि स्थापित वैज्ञानिक तथ्य के रूप में।

मुक्ति की अवधि और पुनर्जन्म

स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

"वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होकर ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोगते हैं और पुनः महाकल्प के पश्चात् संसार में आते हैं।"

इसके समर्थन में वे मुण्डक उपनिषद् (3.2.6) का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं और आगे गणना करके बताते हैं कि मुक्त जीव अत्यन्त दीर्घकाल तक मुक्ति का सुख भोगता है, तत्पश्चात पुनः संसार में जन्म लेता है।

समीक्षा

प्रथम प्रश्न यह है कि मुण्डक उपनिषद् के उक्त मन्त्र में वह विशाल कालगणना कहाँ लिखी है जिसका वर्णन स्वामी दयानन्द करते हैं?

मन्त्र में "परान्तकाल" शब्द अवश्य है, किन्तु वहाँ न तो चतुर्युगी, न सहस्र चतुर्युगी, न ब्रह्मा का अहोरात्र और न ही वह विस्तृत गणना लिखी हुई है जो स्वामी जी ने प्रस्तुत की है।

अतः यह प्रश्न उठता है कि यह कालगणना मन्त्र से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुई है अथवा भाष्यकार की अपनी व्याख्या है।

यदि कोई व्यक्ति मन्त्र को पढ़कर स्वयं उस निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सकता और निष्कर्ष केवल भाष्यकार की विशेष व्याख्या पर निर्भर है, तो उस व्याख्या की स्वतन्त्र समीक्षा की जा सकती है।

क्या मुक्ति अनेक जन्मों में ही सम्भव है?

स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

"मुक्ति अनेक जन्मों में होती है।"

इसके समर्थन में वे मुण्डक उपनिषद् का यह मन्त्र उद्धृत करते हैं—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

किन्तु इस मन्त्र में केवल इतना कहा गया है कि जब अविद्या का नाश होता है, संशय समाप्त होते हैं और कर्म क्षीण हो जाते हैं तब मोक्ष की अवस्था प्राप्त होती है।

मन्त्र में कहीं भी यह नहीं कहा गया कि यह प्रक्रिया अनिवार्य रूप से अनेक जन्मों में ही पूर्ण होगी।

यदि किसी ग्रन्थ में काल-नियम का स्पष्ट उल्लेख न हो, तो केवल उस आधार पर "अनेक जन्मों" का निष्कर्ष निकालना कठिन प्रतीत होता है।

सांख्य दर्शन का दृष्टिकोण

सांख्य दर्शन में मुक्ति के सम्बन्ध में काल का कोई निश्चित नियम स्वीकार नहीं किया गया।

"अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः।" (सांख्य 1.70)

अर्थात् साधकों की योग्यता में भेद होने के कारण मुक्ति-प्राप्ति के समय का कोई निश्चित नियम नहीं है।

इसी प्रकार—

"न कालनियमो वामदेववत्।" (सांख्य 4.20)

अर्थात् वामदेव आदि ऋषियों के उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि आत्मज्ञान की प्राप्ति में कोई निश्चित काल-नियम नहीं है।

ब्रह्ममुनि भाष्यकार इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि किसी को इसी जन्म में विवेकज्ञान प्राप्त हो सकता है, किसी को अगले जन्म में और किसी को उससे भी अधिक समय लग सकता है।

फिर आगे कहा गया है—

"अधिकारिप्रभेदान्न नियमः।" (सांख्य 3.76)

अर्थात् अधिकारियों (साधकों) की योग्यता में भेद होने के कारण मुक्ति की प्राप्ति में कोई सार्वभौमिक समय-सीमा नहीं मानी जा सकती।

दयानन्द के कथन की समस्या

यदि मुक्ति के लिए अनिवार्य रूप से अनेक जन्म अपेक्षित हों, तो सांख्य दर्शन के उपर्युक्त सूत्रों का क्या अर्थ होगा?

सांख्य का मत यह है कि मुक्ति का समय साधक की योग्यता पर निर्भर करता है, किसी निश्चित काल-नियम पर नहीं।

अतः यह सम्भव है कि कोई साधक अनेक जन्मों के बाद मुक्ति प्राप्त करे, किन्तु यह भी सम्भव है कि किसी विशेष अधिकारी को उसी जन्म में आत्मज्ञान प्राप्त हो जाए।

इस दृष्टि से "मुक्ति केवल अनेक जन्मों में ही होती है" कहना अत्यधिक निश्चित निष्कर्ष प्रतीत होता है।

निष्कर्ष

मुण्डक उपनिषद् के जिन मन्त्रों को स्वामी दयानन्द ने प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है, उनमें न तो मुक्ति की अवधि की वह विस्तृत कालगणना प्रत्यक्ष रूप से लिखी हुई है और न ही यह स्पष्ट कहा गया है कि मुक्ति अनिवार्य रूप से अनेक जन्मों के बाद ही प्राप्त होगी।

इसके विपरीत सांख्य दर्शन के सूत्र यह संकेत करते हैं कि मुक्ति की प्राप्ति में कोई निश्चित काल-नियम नहीं है। साधक की योग्यता, पूर्व संस्कार और विवेकज्ञान की परिपक्वता के अनुसार किसी को शीघ्र, किसी को विलम्ब से और सम्भवतः किसी को उसी जन्म में भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

अतः "मुक्ति अनेक जन्मों में ही होती है" तथा "मुक्त जीव निश्चित काल के बाद पुनः संसार में लौटता है" — ये निष्कर्ष स्वयं उद्धृत मन्त्रों से प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध नहीं होते, बल्कि भाष्यकार की विशिष्ट व्याख्या पर आधारित प्रतीत होते हैं।

शिशु माँ का दूध न पिए?

स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

"प्रसूता का दूध छः दिन तक बालक को पिलावे। पश्चात् धायी पिलाया करे... जो कोई दरिद्र हो, धायी को न रख सके तो वे गाय वा बकरी के दूध से बालक का पालन करें... प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे। दूध रोकने के लिये स्तन के छिद्र पर उस ओषधि का लेप करे जिससे दूध स्रवित न हो। ऐसे करने से दूसरे महीने में पुनरपि युवती हो जाती है।"

— (सत्यार्थ प्रकाश, द्वितीय समुल्लास)

समीक्षा

यहाँ स्वामी दयानन्द ने सामान्य नियम के रूप में कहा है कि प्रसूता माता केवल छह दिन तक शिशु को स्तनपान कराए, उसके बाद धाय (wet nurse) अथवा अन्य विकल्पों द्वारा उसका पालन-पोषण किया जाए।

प्रश्न यह है कि यदि माता स्वस्थ है, पर्याप्त दूध उत्पन्न हो रहा है और वह स्वयं शिशु का पालन करने में सक्षम है, तो उसे अपने ही बच्चे को दूध पिलाने से क्यों रोका जाए?

यदि यह केवल विशेष परिस्थितियों के लिए कहा गया होता, तो बात अलग थी। किन्तु यहाँ तो सामान्य नियम के रूप में धाय अथवा पशु-दूध को प्राथमिकता दी गई प्रतीत होती है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का मत

आज चिकित्सा विज्ञान इस विषय में अत्यन्त स्पष्ट है।

1. माँ का दूध शिशु के लिए सर्वोत्तम आहार है

जन्म के बाद निकलने वाला प्रथम दूध (Colostrum) शिशु के लिए अत्यन्त लाभकारी माना जाता है। इसमें रोग-प्रतिरोधक तत्व (antibodies) होते हैं जो नवजात शिशु को अनेक संक्रमणों से सुरक्षा प्रदान करते हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) तथा यूनिसेफ की अनुशंसा है कि जन्म के बाद प्रारम्भिक छह महीनों तक शिशु को केवल माँ का दूध दिया जाए।

यदि माँ का दूध उपलब्ध है, तो सामान्यतः उसे छोड़कर किसी अन्य विकल्प की आवश्यकता नहीं होती।

2. गाय या बकरी का दूध विकल्प नहीं

नवजात शिशु की पाचन प्रणाली अत्यन्त संवेदनशील होती है।

गाय तथा बकरी के दूध की संरचना मानव दूध से भिन्न होती है। आधुनिक बाल-चिकित्सा विज्ञान जन्म के प्रारम्भिक महीनों में सीधे पशु-दूध को आदर्श विकल्प नहीं मानता।

अतः जिस स्थिति में माँ का दूध उपलब्ध हो, वहाँ पशु-दूध को प्राथमिक विकल्प बताना आधुनिक वैज्ञानिक समझ से मेल नहीं खाता।

3. स्तनपान से माता को भी लाभ होता है

स्तनपान केवल शिशु के लिए ही लाभकारी नहीं है।

चिकित्सकीय शोध बताते हैं कि स्तनपान के समय ऑक्सीटोसिन (Oxytocin) हार्मोन का स्राव होता है, जो गर्भाशय को सामान्य अवस्था में लौटने में सहायता करता है तथा प्रसवोत्तर स्वास्थ्य लाभ में सहायक होता है।

इसलिए "दूध रोक देना" स्वयं माता के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी प्रश्न उत्पन्न करता है।

"दूध रोकने" की सलाह

स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि स्तनों पर औषधि का लेप कर दूध का स्राव रोक देना चाहिए।

किन्तु आधुनिक चिकित्सा के अनुसार अनावश्यक रूप से दूध रोकने का प्रयास स्तनों में सूजन, दर्द, संक्रमण (Mastitis) तथा अन्य जटिलताओं का कारण बन सकता है।

इसके अतिरिक्त यह कथन कि ऐसा करने से स्त्री "दूसरे महीने में पुनः युवती हो जाती है", किसी वैज्ञानिक प्रमाण से समर्थित नहीं है।

"युवती हो जाना" स्वयं एक अस्पष्ट अभिव्यक्ति है जिसका कोई स्पष्ट चिकित्सकीय अर्थ नहीं है।

मातृत्व और भावनात्मक पक्ष

स्तनपान केवल पोषण की प्रक्रिया नहीं है।

यह माता और शिशु के बीच प्रारम्भिक भावनात्मक सम्बन्ध का भी महत्वपूर्ण माध्यम है।

मनोविज्ञान तथा बाल-विकास सम्बन्धी अध्ययनों में बार-बार यह पाया गया है कि माता का प्रत्यक्ष सम्पर्क और स्तनपान शिशु के भावनात्मक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

स्वाभाविक रूप से अधिकांश माताएँ अपने शिशु का पालन स्वयं करना चाहती हैं। अतः जहाँ कोई चिकित्सकीय बाध्यता न हो, वहाँ माँ को अपने ही शिशु को दूध न पिलाने की सलाह अप्राकृतिक प्रतीत होती है।

स्वयं आर्यसमाजी विद्वानों की आपत्ति

इस विषय में स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने भी महत्वपूर्ण टिप्पणी की है—

"मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये।"

अर्थात् बालक के शरीर की वृद्धि के लिए माता का दूध ही सर्वोत्तम है।

स्वामी विद्यानन्द आगे स्वीकार करते हैं कि जिस माता के शरीर से बालक का निर्माण हुआ है, उसी के शरीर से उत्पन्न दूध बालक के लिए सर्वाधिक अनुकूल होता है। साथ ही वे माता और शिशु के स्नेहपूर्ण सम्बन्ध को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि माता का दूध ही सर्वोत्तम है, तो सत्यार्थ प्रकाश में धाय अथवा पशु-दूध को सामान्य व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने का औचित्य क्या है?

निष्कर्ष

माँ के दूध के स्थान पर धाय या पशु-दूध को प्राथमिकता देने का विचार आधुनिक चिकित्सा विज्ञान, बाल-पोषण विज्ञान तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से समर्थित नहीं है।

यदि किसी विशेष परिस्थिति में माँ स्तनपान कराने में असमर्थ हो, तो विकल्पों की चर्चा समझी जा सकती है। किन्तु सामान्य नियम के रूप में माँ को छह दिन बाद स्तनपान से रोकना तथा दूध का स्राव बंद करने की सलाह देना वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त मुर्खतापूर्ण प्रतीत होता है।

नियोग प्रकाश

(प्रश्न) जब वंशच्छेदन हो जाय तब भी उस का कुल नष्ट हो जायगा और स्त्री पुरुष व्यभिचारादि कर्म कर के गर्भपातनादि बहुत दुष्ट कर्म करेंगे इसलिये पुनर्विवाह होना अच्छा है।

(उत्तर) नहीं-नहीं क्योंकि जो स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य में स्थिर रहना चाहें तो कोई भी उपद्रव न होगा और जो कुल की परम्परा रखने के लिये किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद ले लेंगे उस से कुल चलेगा और व्यभिचार भी न होगा और जो ब्रह्मचर्य न रख सकें तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर ले

समीक्षा 'स्वजाति' से अर्थ यहाँ स्ववर्ण है। अपने ही वर्ण का बच्चा गोद ले अन्य वर्णों का नहीं। स्वजाति से मनुष्य जाती अर्थ नहीं हो सकता क्योकि मनुष्य बन्दर के बच्चे को तो गोद लेगा नहीं। ऐसा लिखने का क्या प्रयोजन है? ब्राह्मण, शुद्र अथवा वैश्य वर्ण के बच्चे को गोद क्यों नहीं ले सकता? आप बच्चे अनाथ आश्रम से ही गोद लोगे। अनाथ आश्रम में कौन सा बच्चा किस वर्ण का यह ज्ञान कैसे संभव है? बच्चे सगे संबंधियों से भी गोद लिए जाते हैं परन्तु वो तो स्ववर्ण का ही होगा। क्योंकि दयानंद सरस्वती ने ब्राह्मण का, क्षत्रिय का, वैश्य का, शुद्र का, स्ववर्ण की स्त्रियों से विवाह माना है। अर्थात ब्राह्मण कुल में लोग ब्राह्मण ही बने रहे। यहाँ पर जो स्ववर्ण का बच्चा गोद लिया जा रहा है, यह सगे संबंधियों की बात नहीं। और अनाथ आश्रम का विकल्प तो है ही। क्या वहाँ के बच्चे को कोई गोद नहीं लेगा? वहाँ वर्ण का निर्धारण कैसे संभव है? वहाँ आप जाकर बच्चे का वर्ण पूछोगे क्या? जब समाजी जातिवाद मानते ही नहीं फिर यह सब लिखना निष्प्रयोजन ही है। जो संतान को गोद लेना चाहे तो किसी भी बच्चे को गोद ले ले। आप जैसा संस्कार दोगे वैसा उस बच्चे का चरित्र निर्माण होगा।

- **ब्रह्मचर्य न रख सकें तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर ले [अन्यत्र-** गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष से, वा दीर्घरोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाय तो किसी से नियोग करके उसके लिये पुत्रोत्पत्ति करदे link]

यद्यपि ब्रह्मचर्य का अर्थ बहुत विस्तृत है, परन्तु यहाँ ग्रंथकार ने ब्रह्मचर्य शब्द कामभाव के अर्थ में लिया है। '**ब्रह्मचर्य न रख सकें**' अपने काम भाव को काबू न कर सके तो नियोग कर संतान उत्पत्ति कर दे। नियोग तो उपकार भावना से की जाती है काम की संतुष्टि के लिए नहीं।(ऐसा काल्पनिक मत आर्य समाजियों का है) इसकी क्या गारंटी है की एक बार नियोग करने के बाद उसमे दुबारा काम भाव नहीं जागेगा तो क्या वो उसकी शांति के लिए नियोग करता रहे। यह बेहूदा नियम है। विशेष रूप से काम की तृप्ति के लिए नियोग करना ठीक नहीं है। इस आपातकालीन नियम को सामान्य करना व्यभिचार ही है। [जो नियोग की व्यवस्था को छोड़कर कामवशीभूत हो सम्भोग करते हैं, वे दोनों पुत्रवधु-सम्भोग तथा गुरुपत्नी-सम्भोग के पापभागी होकर पतित हो जाते हैं। मनु 9.63] दयानंद की बात तो मनु के भी विपरीत है|

दयानंद समुल्लास ४ में **"सोम; प्रथमो विविदे"** इस मन्त्र के अर्थ में लिखते है **"इस मन्त्र में ग्यारहवें पुरुष तक स्त्री नियोग कर सकती हे, वैसे पुरुष भी ग्यारहवीं स्त्री तक नियोग कर सकता है।;** एक स्त्री को ११ नियोग करने को कहा है ये तो वेश्या के समान कर्म है। महाभारत में भी ४ नियोग के बाद किये जाने वाले नियोग को कुंती वेश्या के समान कर्म कहती है।

पाण्डुस्तु पुनरेवैनां पुत्रलोभान्महायशाः । प्राहिणोद्दर्शनीयाङ्गीं कुन्ती त्वेनमथाब्रवीत् नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत । अतः परं चारिणी स्यात्पञ्चमे बन्धकी भवेत्(Adi parv,chapter 114,64-65)

अति यशस्वी पाण्डुने पुत्रके लोभसे फिर सुन्दर अंगोंवाली कुन्तीको भेजना चाहा । उस- पर कुन्ती उनसे बोली ॥ ६४ ॥ **धर्म जाननेवाले लोग आपत्कालमें भी चौथे प्रसवकी प्रशंसा नहीं करते, क्योंकि चौथे पुरुषसे नारी स्वैरिणी होती है और पांचवें पुरुषसे मिलने से वेश्या होती है ॥** ६५ ॥

(प्रश्न) नियोग अपने वर्ण में होना चाहिये वा अन्य वर्णों के साथ भी? (उत्तर) अपने वर्ण में वा अपने से उत्तमवर्णस्थ पुरुष के साथ अर्थात् वैश्या स्त्री वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ; क्षत्रिया क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ; ब्राह्मणी ब्राह्मण के साथ नियोग कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वीर्य सम वा उत्तम वर्ण का चाहिये, अपने से नीचे वर्ण का नहीं। स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से विवाह वा नियोग से सन्तानोत्पत्ति करना।

समीक्षा- अपने ही वर्ण में नियोग क्यों? ग्रंथकार ने लिखा है की **'वीर्य सम वा उत्तम वर्ण का चाहिये'** वीर्य उत्तम वर्ण का ही चाहिए ऐसा क्यों? जबकि ऋषि दयानंद ने स्वयं रज वीर्य से ब्राह्मण आदि शरीर होने का निषेध किया है। फिर उत्तम वर्ण के वीर्य में ऐसा क्या विशिष्ट है? यह जातिवाद मनुस्मृति में भी लिखा है

परन्तु सपिंड में नियोग करने को कहा है।[मनु 9.५९],

(प्रश्न) स्त्री और पुरुष का बहु विवाह होना योग्य है वा नहीं?

(उत्तर) युगपत् न अर्थात् एक समय में नहीं।

(प्रश्न) क्या समयान्तर में अनेक विवाह होने चाहियें?

(उत्तर) हां जैसे-

या स्त्री त्वक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा। पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥ मनु०॥

जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ हो अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिये। किन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिये।[sp4]

समीक्षा- अक्षत योनि अक्षत वीर्य का ही पुनर्विवाह हो परन्तु प्रश्न है यह है की आप कैसे यह पता करोगे की कौन अक्षत योनि है और कौन नहीं? सामने वाला व्यक्ति सत्य बोलने के लिए बाध्य तो नहीं है। विवाह के बाद क्षत योनि वाली महिला पति के मर जाने के पश्चात् दूसरा विवाह करने के लिए अपने आप को अक्षत कह सकती है। इसीलिए इसका पहचान करना लगभग असंभव है। और पुराने समय में तो असंभव ही था।

शास्त्रों में विधवा के लिए पुनर्विवाह का स्पष्ट उपदेश है

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि । हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ ऋग्वेद - मण्डल » 10; सूक्त » 18; मन्त्र » 8

अर्थ- (नारि) हे विधवा नारि ! तू (एतं गतासुम्) इस मृत को छोड़कर (जीवलोकम्-अभ्येहि) जीवित पति को प्राप्त हो (हस्तग्राभस्य दिधिषोः पत्युः-तव-इदं जनित्वम्-उदीर्ष्व) विवाह में जिसने तेरा हाथ पकड़ा था, उस पति की और अपनी सन्तान को उत्पन्न कर (अभि संबभूथ) तू इस प्रकार सुखसम्पन्न हो ॥८॥

हे नारि त्वं गतासुं गतप्राणमेतं पतिमुपशेष उपेत्य शयनं करोषि । उदीर्ष्यास्मात्पतिस- मीपादुत्तिष्ठ । जीवलोकमभिजीवन्तं प्राणिसमूहमभिलक्ष्यैहि आगच्छ । त्वं हतस्तग्राभस्य पाणिग्राहवतो दिधिषोः पुनर्विवाहेच्छोः पत्युरेतत् जनित्वम् जायात्वमभिसम्बभूवाऽऽभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि । - तैत्तिरीयारण्यक ६ । १ । १४

भाषार्थ - हे नारि ! तू इस मृतपति के पास लेटी है । इस पति के समीप से उठ । जीवित पुरुषों का विचार कर, आ और तू हाथ पकड़नेवाले पुनर्विवाह की इच्छा करनेवाले इस पति को जायाभाव (स्त्रीभाव) से अच्छी तरह प्राप्त हो ।

पुनर्विवाह तथा एक से अधिक स्त्री से विवाह का प्रमाण

राजा दशरथ की तीन पत्नी

यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता ।तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता ॥ ४ ॥

अर्थ - राजा दशरथ सम्पूर्ण प्रजा का सब ओर से ऐसा ही रक्षक है जैसा महातेजस्वी मनु अपनी प्रजा का परिरक्षक था ॥

सातेनेक्ष्वाकुनाथेन पुरीसुपरि रक्षिता । यथापुरस्तान्मनुनामानवेन्द्रेण धीमता ॥ २० ॥

अर्थ - जैसे पूर्वकाल में मानवेन्द्र मनु ने रक्षा की थी वैसे ही इक्ष्वाकुवंशीय राजा दशरथ उस पुरी की रक्षा कर रहा था ।

अतीत्यैकादशाहं तु नाम कर्म तथा करोत् । ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकेयी सुतम् ॥ १६ ॥ सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा । वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कुरुते तदा ।। १७ ॥

अर्थ- ग्यारह दिन व्यतीत होने पर परमानन्दित वसिष्ठमुनि ने चारो भाइयों का नामकरण किया, कौसल्या के महाप्रतापी पुत्र का नाम राम, कैकेयी के पुत्र का नाम भरत और सुमित्रा के पुत्रों का नाम लक्ष्मण और शत्रुघ्न रखा ॥[रामायण बालकाण्ड]

राजा दशरथ की तीन पत्निया थी और कही भी पूरी रामायण में इसके लिए राजा दशरथ की कही निंदा नहीं की गई है।

तस्यां पुथ्र्यामयोध्यायां वेदवित्सर्वसंग्रहः । दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपद प्रियः ॥ १ ॥

अर्थ-उस अयोध्यापुरी में वेदज्ञ, सबका यथायोग्य मान करने वाला, दीर्घदर्शी, महातेजस्वी पुरवासी वा देशवासियों का प्रिय-

इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मपरो वशी । महर्षि कल्पो राजर्षित्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ २ ॥

अर्थ - इक्ष्वाकु शीय महारथी, यज्ञशील, धर्मपरायण, सबको वश में रखने वाला महर्षियों के समान राजर्षि तीनों लोक में प्रसिद्ध-

बलवान्निहतामित्रो मित्रवान् विजितेन्द्रियः । धनैश्च संचयैश्चान्यैः शक्रवैश्रवणोपमः ॥३॥

अर्थ - पराक्रमी, शत्रुहन्ता, मित्रोंवाला, जितेन्द्रिय और धनधान्य के संचय में इन्द्र और कुबेर के समान है॥ [रामायण बालकाण्ड]

अर्जुन की पत्नी चित्रांगदा [आदिपर्व, अध्याय 214]

तत्र सर्वाणि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।अभिगम्य महाबाहुरभ्यगच्छन्महीपतिम् ॥ १४ ॥

वहाँके सम्पूर्ण तीर्थों और पवित्र मन्दिरोंमें जानेके बाद महाबाहु अर्जुन मणिपूरनरेशके पास गये ॥ १४ ॥

मणिपूरेश्वरं राजन् धर्मज्ञं चित्रवाहनम् ।तस्य चित्राङ्गदा नाम दुहिता चारुदर्शना ॥ १५ ॥

राजन्! मणिपूरके स्वामी धर्मज्ञ चित्रवाहन थे। उनके चित्रांगदा नामवाली एक परम सुन्दरी कन्या थी ॥ १५ ॥

तां ददर्श पुरे तस्मिन् विचरन्तीं यदृच्छया ।दृष्ट्वा च तां वरारोहां चकमे चैत्रवाहनीम् ॥ १६ ॥

उस नगरमें विचरण करती हुई उस सुन्दर अंगोंवाली चित्रवाहनकुमारीको अकस्मात् देखकर अर्जुनके मनमें उसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा हुई ॥ १६ ॥

अभिगम्य च राजानमवदत् स्वं प्रयोजनम् ।देहि मे खल्विमां राजन् क्षत्रियाय महात्मने ॥ १७ ॥

अतः राजासे मिलकर उन्होंने अपना अभिप्राय इस प्रकार बताया- 'महाराज ! मुझ महामनस्वी क्षत्रियको आप अपनी यह पुत्री प्रदान कर दीजिये' ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वा त्वब्रवीद् राजा कस्य पुत्रोऽसि नाम किम् ।उवाच तं पाण्डवोऽहं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १८ ॥

यह सुनकर राजाने पूछा- -'आप किनके पुत्र हैं और आपका क्या नाम है ?' अर्जुनने उत्तर दिया, 'मैं महाराज पाण्डु तथा कुन्तीदेवीका पुत्र हूँ। मुझे लोग धनंजय कहते हैं' ॥ १८ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय तां कन्यां प्रतिगृह्य च ।उवास नगरे तस्मिंस्तिस्रः कुन्तीसुतः समाः ॥ २६ ॥

'तथास्तु' कहकर अर्जुनने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की और उस कन्याका पाणिग्रहण करके उन्होंने तीन वर्षोंतक उसके साथ उस नगरमें निवास किया ॥ २६ ॥

अर्जुन की पत्नी उलूपी[आदिपर्व, अध्याय 213]

साहं त्वामभिषेकार्थमवतीर्णं समुद्रगाम् ।दृष्ट्वैव पुरुषव्याघ्र कन्दर्पेणाभिमूर्च्छिता ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ! जब आप स्नान करनेके लिये समुद्रगामिनी नदी गंगामें उतरे थे, उस समय आपको देखते ही मैं कामवेदनासे मूर्च्छित हो गयी थी ॥ १९ ॥

तां मामनङ्गग्लपितां त्वत्कृते कुरुनन्दन ।अनन्यां नन्दयस्वाद्य प्रदानेनात्मनोऽनघ ।। २० ।।

निष्पाप कुरुनन्दन! मैं आपके ही लिये कामदेवके तापसे जली जा रही हूँ। मैंने आपके सिवा दूसरेको अपना हृदय अर्पण नहीं किया है। अतः मुझे आत्मदान देकर आनन्दित कीजिये ।। २० ।।

साहं शरणमभ्येमि रोरवीमि च दुःखिता । याचे त्वां चाभिकामाहं तस्मात् कुरु मम प्रियम् । सत्वमात्मप्रदानेन सकामां कर्तुमर्हसि ।। ३२ ।।

मैं भी यही आशा लेकर शरणमें आयी हूँ और बार-बार दुःखी होकर रोती-गिड़गिड़ाती हूँ। मैं आपके प्रति अनुरक्त हूँ और आपसे समागमकी याचना करती हूँ। अतः मेरा प्रिय मनोरथ पूर्ण कीजिये। मुझे आत्मदान देकर मेरी कामना सफल कीजिये ।। ३२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पन्नगेश्वरकन्यया ।कृतवांस्तत् तथा सर्वं धर्ममुद्दिश्य कारणम् ।। ३३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! नागराजकी कन्या उलूपीके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार अर्जुनने धर्मको ही सामने रखकर वह सब कार्य पूर्ण किया ।। ३३ ।।

स नागभवने रात्रिं तामुषित्वा प्रतापवान् ।उदितेऽभ्युत्थितः सूर्ये कौरव्यस्य निवेशनात् ।। ३४ ।।

प्रतापी अर्जुनने नागराजके घरमें ही वह रात्रि व्यतीत की। फिर सूर्योदय होनेपर वे कौरव्यके भवनसे ऊपरको उठे ।। ३४ ।।

<u>कृष्ण की एक से अधिक पत्नी</u>

कृष्ण की केवल एक पत्नी थी इसका कोई प्रमाण नहीं जबकि एक से अधिक पत्नी का उल्लेख अनेक जगह प्राप्त होता है।

<u>विचित्रवीर्य की दो पत्नी</u>[Adiparva, adhyay 102]

ताः सर्वगुणसम्पन्ना भ्राता भ्रात्रे यवीयसे । भीष्मो विचित्रवीर्याय प्रददौ विक्रमाहृताः ।। ५८ ।।

भाई भीष्मने अपने पराक्रमद्वारा हरकर लाई हुई उन सर्वसद्गुणसम्पन्न कन्याओंको अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यके हाथमें दे दिया ।। ५८ ।।

विनिश्चित्य स धर्मज्ञो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।अनुजने तदा ज्येष्ठामम्बां काशिपतेः सुताम् ।। ६४ ।।

वे स्वयं भी धर्मके ज्ञाता थे, फिर भी वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ भलीभाँति विचार करके उन्होंने काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बाको उस समय शाल्वके यहाँ जानेकी अनुमति दे दी ।। ६४ ।।

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे । भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ।। ६५ ।।

शेष दो कन्याओंका नाम अम्बिका और अम्बालिका था। उन्हें भीष्मजीने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार छोटे भाई विचित्रवीर्यको पत्नीरूपमें प्रदान किया ।। ६५ ।।

<u>ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पत्निया</u>

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा हस्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि करवाणीति ॥ १ ॥[बृह० उपनिषद : २-४-१]

'अरी मैत्रेयी!' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा 'मैं इस स्थान (गार्हस्थ्य- आश्रम) से ऊपर (संन्यास - आश्रममें) जानेवाला हूँ। अतः [तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ] इस कात्यायनीके साथ तेरा बँटवारा कर दूँ ॥ १ ॥

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुमैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञेव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥ १ ॥[बृह० उपनिषद : ४-५-१]

यह प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्यकी मैत्रेयी और कात्यायनी ये दो भार्याएँ थीं। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी तो स्त्रियोंकी-सी बुद्धिवाली ही थी। तब याज्ञवल्क्यने दूसरे प्रकारकी चर्या प्रारम्भ करनेकी इच्छासे [कहा-] ॥ १ ॥

दूसरा विवाह करने की आज्ञा

या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः । सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥ ८२ ॥

अर्थ- (या रोगिणी स्यात्) जो स्त्री स्थायी रोगिणी हो **(तु)** किन्तु **(हिता च शीलतः सम्पन्नाः)** पति की हितैषिणी और सुशील आचरण वाली हो **(सा+ अनुज्ञाप्य + अधिवेत्तव्या)** पति उससे अनुमति लेकर दूसरा विवाह कर ले **(च)** और **(कर्हिचित् न + अवमान्या)** उसकी कभी अवमानना न करे ॥ ८२ ॥ [Manusmriti 9.82]

द्वितीयपरिणयने हेतू नाह-सुरापी व्याधिता धूर्ता वन्ध्यार्थन्यप्रियंवदा ।स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा ॥ ७३ ॥[Yajnavalkya Smriti, aacharadhyay, vivah prakaran, p30]

भाषा—सुरापान करने वाली, दीर्घ रोग से ग्रस्त, धूर्त, बांझ, धन का नाश करने वाला, कठोर वचन बोलने वाली, पुत्रियों को ही जन्म देने वाली और पति का अहित करने वाली पत्नी के रहते हुए भी दूसरा विवाह
कर लेना चाहिए ॥ ७३ ॥

अधिविन्ना तु भर्तव्या महदेनोऽन्यथा भवेत् ।यत्रानुकूल्यं दंपत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते ॥ ७४ ॥

भाषा — किन्तु उक्त दोषों वाली प्रथम विवाहिता पत्नी का भी पालन- पोषण करना चाहिए, अन्यथा घोर पाप होता है। जहां स्त्री पुरुष दोनों परस्पर अनुकूल होते हैं वहां धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्रतिदिनं वृद्धि होती हैं ॥ ७४ ॥[Yajnavalkya Smriti, aacharadhyay, vivah prakaran, p30]

समाजियों का एक पत्नी रखना ही वैदिक है ऐसा उनकी खुद की काल्पनिक मान्यता है। बिना रोग के भी एक से अधिक पत्नियों को राजा तथा ऋषि आदि ने रखा है| श्रुति में भी ऐसे उल्लेख प्राप्त होते है-

'प्रति स्त्री सह शेते स प्रतिहारः (छान्दोग्योपनिषत् २.१३.१)- अनेक पत्नियों में से एक पत्नी के साथ सोता है वह प्रतिहार है| आदिशंकराचार्य ने लिखा है- **'अपनी बहुत-सी स्त्रियों में से जो कोई जब कभी समागम की इच्छा लेकर अपनी शय्या पर आ जाय, उसका परित्याग न करे'(**छान्दोग्योपनिषत् २.१३.२)

दयानंद और विधवा विवाह

आपने समाजियों के मुख से सुना होगा कि दयानंद सरस्वती ने विधवा विवाह का समर्थन किया परंतु सत्य केवल इतना नहीं। पूरी सच्चाई जानने के लिए स्वामी जी तथा समाजियों के पुस्तकों की ओर चलना चाहिए-

"मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी अपनी पत्रिका में लिखते हैं-'वृत्तान्त यह है कि यह महाराज बम्बई में उपदेश देते हैं (१) मूर्तियों को न पूजो (२) वेदों तथा शास्त्रों की तुलना में पुराण नगण्य हैं। (३) विधवाओं का पुनर्विवाह करो" [जीवनी लेखराम p249]

***"प्रश्न-** वेद के दृष्टिकोण से (बताइये कि) विधवा स्त्री अथवा विधुर पुरुष का (पुन:) विवाह होना उचित है या नहीं ? और यह कि अपनी स्त्री के जीवित रहते अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात् दूसरा और तीसरा विवाह करने से पुरुष को कुछ दोष तो नहीं लगता ?*

उत्तर- विधवा स्त्री का पुनर्विवाह होना चाहिए और अपनी स्त्री के जीवित रहते हुए दूसरे विवाह का पात्र नहीं है; परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका अधिकार है कि वह पुन: विवाह चाहे करे या न करे। ऐसा ही अधिकार विधवा स्त्री को भी होना चाहिए" [जीवनी लेखराम p288]

"विधवाओं का विवाह कर देना उचित है; यह कोई दोष की बात नहीं"[जीवनी लेखराम 319]

*"प्रतिमा-पूजन, ठाकुरद्वारे, शिवालय आदि की प्रतिष्ठा करने को असत्कर्म ठहराते हैं और चाण्डाल आदि को भी वेदाध्ययन का अधिकारी बतलाते हैं। फिर **विधवाविवाह को श्रुतिसिद्ध ठहराते हैं"*** [जीवनी लेखराम p344]

*"स्वामी जी ने कहा कि हमने ऐसा नहीं कहा, प्रत्युत यह कहा **कि विधवा का विवाह विधुर पुरुष से होना चाहिए ?** कुवारे से नहीं"* [जीवनी लेखराम 346]

*"क्योंकि आर्य इतिहासों में प्रायः स्वयं का ही वर्णन आता है। **विधवा- विवाह का प्रचार केवल शूद्रों में था। द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में नियोग का प्रचार था। विधवा-विवाह से जो लोग विरोध करते हैं, उनकी पुष्टि करके विधवा-विवाह का खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं है।** पर यह अवश्य कहूँगा कि ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर है, क्योंकि वह न्यायकारी है, उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। जब स्त्री- पुरुष दोनों बराबर हैं, क्योंकि वह न्यायकारी है, उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। **जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जावे तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जावे।** प्राचीन आर्य लोग ज्ञानी, विचारशील और न्यायी होते थे। आजकल उनकी संतान अनार्य हो गई। **पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे उतनी स्त्रियाँ कर सकता है।** देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बन्धन नहीं रहा। क्या यह अन्याय नहीं ? क्या यह अधर्म नहीं ?"* [उपदेश मंजरी 12]

" विधवा स्त्री होती, तो उसको नियोग की आज्ञा दी जाती थी और प्रायः विधवाएँ ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णो में प्राय: नियोग से निर्वाह होता था" [उपदेश मंजरी 12]

"वे एक या दो सन्तान पूर्व पति के ही समझे जाते हैं और उसी का नाम चलाते हैं। **आर्य लोगों में विधवा-विवाह की अपेक्षा नियोग अच्छा है।** क्योंकि यदि विधवा-विवाह की आज्ञा मिल जावे, तो स्त्रियाँ अपने पतियों को विष देकर मारना आरम्भ कर दें और यदि पहले पति की जायदाद लेकर विधवा स्त्री दूसरा पति कर लेगी तो उसमें और उसके पूर्व पति के सम्बन्धियों में बहुत-से बखेड़े उठेंगे। जिस विधवा का विवाह होता था, वह शूद्रों में गिनी जाती थी।

विवाह में परस्पर स्त्री-पुरुषों की यह प्रतिज्ञा होती है कि दोनों के मन-चित आदि एक होंगे और वे कभी एक दूसरे के विरुद्ध कोई काम न करेंगे। बचपन में विवाह होने से भला लड़का-लड़की इन बातों को क्या जान सकते हैं और उन मन्त्रों का अर्थ करके कोई समझाता भी नहीं है। पण्डित लोग कहते हैं कि केवल मन्त्र के सुनने से पुण्य होता है, चाहे मन्त्र बोलने वाला उसका अर्थ समझे या न समझे। ब्राह्मण को दक्षिणा दे दी कि सब विधान ठीक-ठीक हो गया। वाह रे ! तुम्हारा सामाजिक प्रबन्ध। अन्धपरम्परा को देखकर तो मानना पड़ता है कि इससे विधवा- विवाह सब प्रकार अच्छा है" [उपदेश मंजरी 12]

"**यह बात कि "पहले तीन वर्णो में नियोग और शूद्रों में विधवा- विवाह" प्राचीन आर्य लोगों के विरुद्ध नहीं है।** इसकी पुष्टि ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ४० का मन्त्र २ देखने योग्य है। प्राचीन समय में गृहस्थ लोग अपनी स्त्रियों को अपने साथ रखा करते थे। यही

विषय इस मन्त्र में वर्णन किया गया है। कोई-कोई पण्डित उस मन्त्र में "देवर" शब्द के अर्थ पति के छोटे भाई के करते हैं। यह ठीक नहीं, क्योंकि निरुक्त में दूसरे पति का नाम देवर बतलाया है। इसी सम्बन्ध में ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १८ का मन्त्र ८ भी द्रष्टव्य है। इसी प्रसङ्ग में एक बात और विज्ञापनीय है। वह यह है कि किन्हीं विशेष दशाओं में पति के जीते जी भी नियोग की आज्ञा मिलती थी। नियोग १० बार (तक) करने की आज्ञा थी। इसमें ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८५ का मन्त्र ४५ का प्रमाण है" [उपदेश मंजरी 12]

*"**(प्रश्न)** स्त्री और पुरुष का बहु विवाह होना योग्य है वा नहीं?*

***(उत्तर)** युगपत् न अर्थात् एक समय में नहीं।*

***(प्रश्न)** क्या समयान्तर में अनेक विवाह होने चाहियें?*

***(उत्तर)** हां जैसे-*

***या स्त्री त्वक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा। पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥** मनु०॥*

जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो और संयोग न हुआ हो अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिये। किन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिए" [सत्यार्थ प्रकाश,४]

समाजी परम्परा में देखा जाये तो जीवनी से अधिक प्रमाणिक सत्यार्थ प्रकाश है। दयानंद सरस्वती के किसी एक वक्तव्य को देख करके कुछ भी निर्णय नहीं करना चाहिए। विधवा संबंधी समस्त संदर्भों पर विचार कर के निर्णय करना चाहिए। स्वामी दयानन्द विधवा का विवाह तो मानते है, लेकिन अक्षत स्त्री पुरुषो(One who is only married and has not had sex) का। अक्षत योनी पुरुष और अक्षत योनी स्त्री को दूसरा विवाह करने की आज्ञा दी है। क्षत स्त्री पुरुषो(जिसने विवाह के बाद sex कर लिया है।) का दूसरा विवाह तब संभव है जब वह शुद्र हो। ["जिस विधवा का विवाह होता था, वह शूद्रों में गिनी जाती थी"- उपदेश मंजरी] किस स्त्री ने विवाह के बाद sex किया है या नहीं इसका पता लगाना प्राचीन काल में सर्वथा असंभव था इस पर पीछे नियोग प्रकरण में विचार किया जा चुका है। शायद स्वामी दयानंद को यह नियम देते समय इसका ज्ञान न रहा होगा

स्वामी दयानंद द्विज में पुनर्विवाह से उत्तम नियोग को मानते है। फिर समाजी लोग विधवा विवाह का प्रचार क्यों करते है? समाजी इसके लिए स्वामी दयानंद को श्रेय देना बंद करे। तुम कहते हो कि हम स्वामी दयानंद से प्रेरणा लेकर विधवाओ का विवाह करवाते है, जबकि ये झूठ है। स्पष्ट रूप से दयानंद का द्रोह है, जब तुम विधवाओ का नियोग करावोगे तभी सच्चे अर्थो में वह दयानंद की भक्ति होगी।

दयानंद मत खंडन - अब आगे प्रमाण से दिखाया जाता है की विवाहित स्त्री पुरुष में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर पुनर्विवाह की आज्ञा है।

सायन ने ऋग्वेद भाष्य(10.४०.२) में लिखा है **"[शयुत्रा]** शयने **[विधवेव]** यथा मृतभर्तका नारी **[देवरं]** भर्तृभ्रातरमभिमुखीकरोति" यहाँ देवर का अर्थ पति का छोटा भाई है।

देवर शब्द का अर्थ 'पति का भाई' और 'दूसरा पति' होता है। ऋषि दयानंद ने **'देवरः कस्माद् द्वितीयों वर उच्यते'** इस निरुक्त वचन का अर्थ करते हुए लिखा है **" जिस से नियोग करे उसी का नाम देवर है"** यह अर्थ सर्वथा गलत है। स्मृति में भी जिसको नियुक्त किया जाये उसे देवर नहीं कहा गया जबकि जिसको नियुक्त किया जायेगा उसमे देवर और सपिंड आते है।**(या नियुक्तान्यतः पुत्र देवराद्वाप्यवाणतुयात्)** इन दोनों वाक्यों में भिन्नता को समझिये -

- **जिसे नियुक्त किया जाये वह देवर है।**

- **नियोग में देवर और सपिंड को नियुक्त किया जाता है।**

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यडनियुक्तया। प्रजेप्सिताधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये।। मनु 9 ५९॥

अर्थ- सन्तान के अभाव में विधिविधानपूर्वक नियोग के लिए नियुक्त स्त्री को देवर से या सपिण्डी (पति की छ: पीढ़ियों में पति का छोटा या बड़ा भाई या स्वजातीय एवं उत्तम जाति का पुरुष) से शारीरिक सम्पर्क करके अभीष्ट सन्तान की प्राप्ति कर लेनी चाहिए।।

यहाँ देवर और सपिंड को अलग किया गया है इससे भी जिसके साथ नियोग हो वह देवर नहीं है। समाजी लोग देवर और दूसरा पति को एक ही समझते है। समाजियों के अनुसार जो नियुक्त होता है वही दूसरा पति है। यह बस दयानंद की बात है और कुछ नहीं। विधवा यदि दूसरा विवाह करे तो वह दूसरा पति भी देवर है।

सायन ने नियोग के अर्थ में वेदार्थ किया है, ऐसा समाजी लोग मानते है। जबकि सायन के भाष्य से भी नियोग की सिद्धि सर्वथा असंभव है। देवर=पति का छोटा भाई यदि भाई के पत्नी के साथ संयोग करता है केवल इतने मात्र से नियोग सिद्ध नहीं किया जा सकता है। जबकि समृति अनुसार पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी उसके भाई से विवाह कर संयोग कर सकती है। अब प्रमाण से दिखाया जाता है की इस मन्त्र का नियोग से दूर दूर तक लेना देना नहीं है। इस मन्त्र पर यास्क का मत जानने से पहले वेद मंत्र देखते है-

कुह꣡ स्विद्दो꣢षा कु꣢ह꣣ वस्तो꣡र꣢श्विना꣣ कु꣡हा꣢꣯भिपि꣣त्वं꣡ क꣢रतः꣣ कु꣡हो꣢षतुः । को वा꣡ꣳ श꣢यु꣣त्रा꣡ वि꣢ध꣣वे꣡व꣢ दे꣣व꣡रं꣢ मर्य꣣ न꣡ योषा꣢꣯ कृणुते स꣣धस्थ꣡ आ - ऋग 10.40.2

अर्थ- हे **(अश्विना)** अश्विद्वय ! **(कुह स्वित् दोषा कुह वस्तोः)** तुम दोनों रात्रि में कहां और दिनके समय कहां जाते हो ? **(कुह अभिपित्वं करतः)** कहां समय बिताते हो ? **(कुह ऊषतुः)** कहां वास करते हो ? **(शयुत्रा देवरं विधवा इव)** जैसे विधवा स्त्री शयनस्थान में द्वितीय वर{देवर} को बुलाती है **(सधस्थे मये योषा न)** और कामिनी(युवती) अपने पति का समादर करती है, **(वां कः आ कृणुते)** वैसे ही यज्ञ में आदर के साथ तुम्हें कौन बुलाता है ? ॥ २ ॥

समाजीयो को जहाँ देवर और विधवा शब्द दिखता है, दिमाग में एक ही बात आती है नियोग। जबकि यहाँ देवर उसी विधवा का दूसरा पति है नियोग के लिए नियुक्त पुरुष नहीं। विधवा का पुनर्विवाह श्रुति सम्मत है ये आगे दिखाया जायेगा

क्व स्विद्रात्रौ भवथः । क्व दिवा । काभिप्राप्निं कुरुथः । क्व वसथः । को वां शयने विधवे देवरम् । [देवरः कस्मात् । द्वितीयो वर उच्यते ।] विधवा विधातृका भवति । विधवनाद्वा । विधावनाद्वेति चर्मशिराः । अपि वा धव इति मनुष्यनाम । तद्वियोगाद्विधवा । देवरो दीव्यतिकर्मा । मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा । योषा यौतेः । श्राकुरुते सस्थाने । nirukta 3.15

अर्थ- (क्व स्वित्) कहां रात्री में थे, कहां दिन में, कहां प्राप्नि वा अभिगमन करते हो । कहां वसते हो । कौन तुम दोनों को **(शयने)** शय्या पर विधवा के समान देवर को । [**देवरः कस्मात् । द्वितीयो वर उच्यते -**देवर किस कारण से, द्वितीय वर कहा जाता है] विधवा **(वि+धातृका)** विना पालन पोषण करने वाले के होती है । **(वि+धवनात्)** विशेष कम्पन के कारण से । [पति के वियोग से कांपती रहती है ।] **(वि + धावनात्)** विशेष इधर उधर दौड़ने से, यह चर्मशिराः[आचार्य कहता है ।] और भी, धव यह मनुष्य का नाम [है ।] उस **[मनुष्य**=पति] के वियोग से विधवा । देवर = खेलने = रति-क्रीड़ा अर्थ वाला [है ।] **मर्यः** = मनुष्य = मरणधर्मा [है ।] **योषा** = यौति से [मिलती है, सङ्गत करती है] **(कुरुते)** अपनी ओर करती है **(सहस्थाने)** साथ [ठहरने के] स्थान में ।

देवर कौन है उसको बताते है "**देवरो दीव्यतिकर्मा" -** देवर खेलन अर्थवाला है। यहाँ खेलने से तात्पर्य है रति क्रीडा। यहाँ पति अर्थ ही होगा रति सुख पति के अधिकार में आता है, नियोग के लिए नियुक्त के अधिकार में नहीं । "**देवरः कस्मात् । द्वितीयो वर उच्यते"** यहाँ देवर को वर कहा है नियुक्त पुरुष को वर किस शास्त्र में कहा गया है? वर तो विवाहित पुरुष होता है नियुक्त पुरुष नहीं

यहाँ पति उस(विधवा) साथ रति कर रहा है वह रति संतान प्राप्ति के लिए किया जा रहा है, नियोग के लिए किया जा रहा ऐसा कोई उल्लेख नहीं है, इसीलिए समान्यत: विवाहित पति का ग्रहण होगा क्योकि विशिष्ट का कथन होता है सामान्य का नहीं। नियोग का मुख्य प्रयोजन ही संतान की प्राप्ति है लेकिन इस वेदमंत्र के आगे पीछे कही भी संतान प्राप्ति की बात नहीं है स्पष्ट है यह विवाह अर्थ में है। सायन ने देवर शब्द से पति का छोटा भाई किया है और उसने निरुक्त का वचन भी दिया जो भिन्न अर्थ प्रदर्शित करते है। यास्क ने देवर का अर्थ छोटा भाई न लेकर दूसरा पति अर्थ लिया है। अर्थ दोनों ही उचित है।

विधवा का पुनर्विवाह श्रुति सम्मत है यह देखने के बाद उपरोक्त वेदार्थ में संशय नहीं होना चाहिए क्योकि जब पुनर्विवाह श्रुति अनुकूल है फिर नियोग क्यों?

या पूर्व पति वित्त्वाथान्यं विन्दतेपरम्। पञ्चौंदनं च तावजं ददातो न वि योषत:॥ Ath/9.5.28॥

अर्थ- **(या)** जो स्त्री **(पूर्वम् पतिम्)** पहिले पति को **(वित्त्वा)** प्राप्त कर, **(अथ)** पुनः{पहले पति के मृत्यु पश्चात्} **(अन्यम्)** उससे भिन्न **(अपरम्)** दूसरे पति को **(विन्दते)** प्राप्त करती है, **(तौ)** वे दोनों **(पञ्चचौदनम् अजम् च ददात:)** पञ्चेन्द्रिय भोगों तथा निज आत्माओं को समपर्ण करके **(न वियोषत:)** परस्पर से वियुक्त नहीं होते।*

समानलोको भवति पुनर्भुवापर: पति: । योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ Ath/ 9.5.28

अर्थ- (पुनर्भुवा) "पुन: पत्नी " होने वाली के साथ {अक्षता च क्षता चैव पुनर्भु: संस्कृता पुनः इति याज्ञवल्क्यस्मृति:} **(अपर: पति)** यह दूसरा पति **(समानलोक:)** एक ही गृहस्थ लोक में वास करने वाला **(भवति)** हो जाता है, **(य:)** जोकि **(पञ्चौदनम्)** निज पञ्चेन्द्रिय भोगों को, **(अजम्)** और निज आत्मा के, (दक्षिणाज्योतिषम्) विवाहनिमित्त दक्षिणा के समय एक नई ज्योति रूप में **(ददाति)** पत्नी के प्रति देता है।

हे नारि त्वं गतासुं गतप्राणमेतं पतिमुपशेष उपेत्य शयनं करोषि । उदीर्ष्यास्मात्पतिस- मीपादुत्तिष्ठ । जीवलोकमभिजीवन्तं प्राणिसमूहमभिलक्ष्यैहि आगच्छ । त्वं हतस्तग्राभस्य पाणिग्राहवतो दिधिषो: पुनर्विवाहेच्छो: पत्युरेतत् जनित्वम् जायात्वमभिसम्बभूवाऽऽभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि तैत्तिरीयारण्यक ६ । १ । १४

भाषार्थ - हे नारि ! तू इस मृतपति के पास लेटी है । इस पति के समीप से उठ । जीवित पुरुषों का विचार कर, आ और तू हाथ पकड़नेवाले पुनर्विवाह की इच्छा करनेवाले इस पति को जायाभाव (स्त्रीभाव) से अच्छी तरह प्राप्त हो ।

जिस प्रकार स्मृति में नियोग का स्पष्ट वर्णन है, वैसा कुछ वेदों में अभी तक मेरी दृष्टि में नहीं आया। मेरी जानकारी के अनुसार नियोग शब्द समाजी भाष्य के अलावा किसी और भाष्य में प्राप्त नहीं होता। समाजी लोग जहाँ पर भी वेदों में 'विधवा' 'देवर' शब्द आता है वहाँ से नियोग अर्थ निकाल देते है।

ऋग्वेद - मण्डल » 10; सूक्त » 85; मन्त्र » 45 के भाष्य में ऋषि दयानंद ने नियोग घुसा रखा है। जबकि इस वेद मंत्र का नियोग से दूर दूर तक लेना देना नहीं है। समाजी लोग इसका अर्थ जानने की चेष्टा भी नहीं करते बस दयानंद पर अँधा भरोसा करते है, क्योकि वो ऋषि है। मंत्र देखिये-

इमां त्वमिन्द्र मीढ्व: सुपुत्रां सुभगां कृणु । दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि

अर्थ- हे **(इन्द्र)** इन्द्र ! **(त्वं इमां सुपुत्रां सुभगां कृणु)** तू इसको उत्तम पुत्रो से युक्त और सोभाग्यशाली कर। **(अस्यां दश पुत्रान् आ धेहि)** इसको दस पुत्र प्रदान कर। **(पतिं एकादशं कृधि)** और पतिको लेकर इसे ग्यारह व्यक्तिवाली बना ॥ ४५ ॥

यहाँ तो विधवा या देवर शब्द भी नहीं है लेकिन हमारे ऋषि ने यहाँ से भी नियोग निकाल दिया मतलब ये है की वेद मंत्र में नियोग हो या नहीं स्वामी जी जब चाहे जिस मन्त्र से चाहे नियोग निकाल देते है। उदहारण देखिये –

स्वामी जी को इस वेद मन्त्र [अथर्ववेद 14; 2; 18] में भी नियोग दिख गया। सत्यार्थ प्रकाश[समुल्लास ४] में देख लो ग्रन्थ विस्तार के भय से यहाँ नहीं दे रहा।

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावतीवीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥

अर्थ- [अदेवृघ्नी] देवर का नाश न करनेवाली, **[अपतिघ्नी]** पतिका घात न करनेवाली, **[पशुभ्य: शिवा]** पशुओं का हित करनेवाली, **[सुयमा सुवर्चाः]** उत्तम नियमों से चलनेवाली और उतम तेज से युक्त **[प्रजावती वीरसूः]** संतानयुक्त, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली **[देवृकामा स्योना]** पति के घर में देवर रहें ऐसी कामना करनेवाली सुखदायिनी तू **[इमम् गार्हपत्यम् अग्निम् सपर्य]** इस गार्हपत्य अग्नि पूजा कर ॥ १८ ॥

सोम: प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः । तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ 10.८५.४०

अर्थ- (सोमः प्रथमः विविदे) सोम ने सबसे प्रथम तुम्हें प्राप्त किया **(गन्धर्वः उत्तरः विविदे**) उसके अनन्तर गन्धर्व ने प्राप्त किया। **(तृतीयः अग्निः)**तीसरे अग्नि ने तुम्हे प्राप्त किया **(तुरीयः मनुष्यजाः ते पतिः)** चौथा मनुष्य तेरा पति है ॥ **४० ॥**

ब्रह्ममुनि का अर्थ देखो -

अर्थ- (ते) हे कन्या ! तेरा **(प्रथमः)** प्रथम पालक **(सोमः-विविदे)** सोमधर्मयुक्त रजोधर्म तुझे प्राप्त होता है **(उत्तरः)** इसके उत्तर पालक **(गन्धर्वः)** रश्मि धर्मवाला सूर्य प्राप्त करता है **(तृतीयः)** तीसरा पालक (अग्निः) यज्ञाग्नि प्राप्त करता है **(तुरीयः)** चतुर्थ पालक **(ते मनुष्यजाः)** तेरा मनुष्यजाति में उत्पन्न पति है ॥४०॥

स्वामी ब्रह्ममुनि ने भी नियोग अर्थ नहीं किया यहाँ नियोग अर्थ असंभव है, परन्तु समाजियों को नियोग इतना प्रिय है की हर मन्त्र में नियोग घुसाते है, हमारे ऋषि दयानंद ने यम यमी संवाद में भी नियोग[सत्यार्थ प्रकाश ४] दिखा रखा है –

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि । उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ऋ 10.10.10

[यम कहता है- **(ता उत्तरा युगानि घा आगच्छान्)** वे श्रेष्ठ युग पर्व भविष्य में आ जायेंगे **(यत्र)** जिसमें **(जामयः)** भगिनियां **(अजामि कृणवन्)** बन्धुत्वके विहीन भ्राताको पति बनावेगी। इसलिये हे **(सुभगे)** सुन्दरी ! **(मत् अन्यं पतिं इच्छस्व)** मुझसे दूसरेको पति बनानेकी इच्छा कर; तू **(वृषभाय बाहुं उप बर्बृहि)** वीर्य सेवन करने में समर्थ बाहु का आश्रय ले ॥ १० ॥

<u>स्वामी जी के अतरंगी भाष्य</u>

वेद मंत्र **'सोम: प्रथमो'**...ऋग 10.८५.४०,(सत्यार्थ प्रकाश, ४) का अर्थ करते हुए लिखते है –

(सोम:)= सुकुमारतादि गुणयुक्त होने से सोम, जो दूसरा नियोग होने से

(गन्धर्व:)= एक स्त्री से संभोग करने से गन्धर्व,

(तुरीय:) = चौथे से लेके ग्यारहवें तक नियोग से पति होते हैं वे

(इमां त्वमिन्द्र)= इस मन्त्र में ग्यारहवें पुरुष तक स्त्री नियोग कर सकती हे, वैसे पुरुष भी ग्यारहवीं स्त्री तक नियोग कर सकता है।

इस प्रकार के वेद भाष्य को समाजी सबसे अच्छा बताते है, वेद मंत्र में आये शब्दों से तो स्वामी जी को कुछ मतलब ही नहीं बस अपने मन से कुछ से कुछ अर्थ किये जा रहे है। समाजियों को जहा से मन होता है वहा से नियोग निकाल देते है। समाजी लोग बताये की महा ऋषि दयानंद ने कौन से व्याकरण अनुशासन तथा कौन से निरुक्त शास्त्र से इस प्रकार का अतरंगी अर्थ किया है।

इस मन्त्र का नियोग से दूर दूर तक कोई लेना देना नहीं है, समाजियों को नियोग अपने दिमाग से हटाना चाहिए। अब स्मृतियों में नियोग का निषेध देखो-

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् [manusmriti 9.64]

द्विजातियों को चाहिए कि वे विधवा स्त्री का देवर आदि अन्य पुरुष से नियोग न करावें क्योंकि पुरुष से नियोग कराकर वे **एक पतिरूप सनातन पातिव्रत्य धर्म को नष्ट करते हैं ॥**

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्व चित् । न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ६५

क्योंकि विवाह विषयक मन्त्रों में कहीं भी नियोग की चर्चा नहीं की गई है। न ही विवाह विषयक शास्त्रों में विधवा स्त्री के पुन: विवाह का उल्लेख ही किया गया है॥ ६५ ॥(वेद मंत्रो में पुन: विवाह का उल्लेख है। ऊपर प्रमाण सहित दिखाया गया है। श्लोक का दूसरा वाक्य गलत है। श्लोक 69 में स्वयं मनु से देवर से दूसरा विवाह करने की आज्ञा दी है।)

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः । मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६

यद्यपि राजा वेन के शासनकाल में मनुष्यों में नियोग का विधान कहा गया तथापि विद्वान द्विजों द्वारा नियोग **पशुधर्म** कहकर ही विशेषरूप से निन्दित किया गया है॥ ६६॥

स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥

क्योंकि प्राचीन समय में सम्पूर्ण पृथ्वी पर राज्य करता हुआ राजर्षियों में अग्रणी राजा वेन काम से नष्ट बुद्धि वाला होकर वर्णसंकर सन्ततियों को उत्पन्न करने लगा॥ ६७॥

ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥

अत: तभी से लेकर जो व्यक्ति अज्ञानवश मृत्पति वाली विधवा स्त्री को सन्तान के लिए नियोगक्रिया हेतु प्रेरित करता है। साधु लोग उसकी विशेषरूप से निन्दा करते हैं॥ ६८ ॥

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥

वाग्दान (सगाई) की रस्म पूर्ण करने पर जिस कन्या का पति मर जाए उस कन्या को पति का छोटा भाई (देवर) इस विधानपूर्वक (विवाह विधि द्वारा) प्राप्त कर लेवे॥ ६९ ॥

समाजी लोग यहाँ पर मिलावट बोल के भाग जाते हैं और कहते हैं कि यहाँ पर विरोध है, जबकि यहाँ पर कहीं कोई प्रकरण के अनुसार विरोध नहीं है। ऊपर नियोग के विषय में बताया गया। उसके बाद नियोग का निषेध कर रहे हैं। क्यों? क्योंकि ये कहते हैं कि राजा वेन के काल में नियोग कहा गया था और उसने नियोग के कारण काम से आसक्त होकर के वर्णसंकर संतान पैदा करने लगा। इसलिए ऋषि साधु लोग नियोग की निंदा करते हैं। नियोग उत्तम नहीं। अतः बाद में स्मृति ने निर्णय दिया कि देवर से नियोग ना करके देवर से उसका विवाह करा दिया जाए। इससे क्या समझ आया की नियोग से विवाह सर्वथा उत्तम है। महत्वपूर्ण यहाँ है की स्मृति अनुसार अक्षत स्त्री/पुरुष का ही पुन: विवाह हो सकता है|

सूर्य पर मनुष्य

(प्रश्न) सूर्य चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं और उनमें मनुष्यादि सृष्टि हे वा नहीं?

(उत्तर) ये सब भूगोल लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती हैं क्योंकि- **एतेषु हीदश्सर्व वसुहितमेते हीदशसर्वै वासयन्ते तद्यदिदसर्व वासयन्ते तस्माद्ल्डसव इति॥ -शत० का० १४॥**

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इन का वसु नाम इसलिये है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा वसती हैं और ये ही सब को वसाते हैं। **जिस लिये वास के निवास करने के घर है, इसलिये इन का नाम वसु है। जब पृथिवी के समान सूर्य चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं पश्चात् उन में इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह?** और जैसे परमेश्वर का यह छोटा सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे? परमेश्वर का कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता तो क्या इतने असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो तो सफल कभी हो सकता है? इसलिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है।

समीक्षा- किसी आकाशीय पिंड को वसु कहने के तीन कारण दिए है-

1. उनमे प्रजा(मनुष्य से लेकर सूक्ष्मजीव पर्यंत) और पदार्थ बसती है इसलिए वसु है।

अब प्रश्न पर ध्यान देना चाहिए। प्रश्न पदार्थ और प्रभाव के कारण वसु होने पर नहीं पूछा गया है। प्रश्न है **"सूर्य चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं और उनमें मनुष्यादि सृष्टि हे वा नहीं"** यहाँ **'मनुष्यादि' से** मनुष्य से लेकर सूक्ष्मजीव तक प्रजा का ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु उत्तर में स्वामी दयानंद वसु को परिभाषित करते है तथा प्रभाव, पदार्थ तथा प्रजा के कारण आकाशीय पिंडो को वसु कहते है। प्रश्न के पहले भाग के कारण ऐसा उत्तर देना उचित है। परन्तु जहाँ संशय उत्पन्न होता है वह वाक्य है – "**जब 'पृथिवी के समान' सूर्य चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं पश्चात् उन में इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह?"**

स्वामी जी ने वाक्य में ही प्रजा लिखकर स्पष्ट कर दिया है, अत: हम यहाँ पदार्थ और प्रभाव के कारण सूर्य चन्द्र आदि को वसु कहा है, ऐसा नहीं कह सकते। वह स्पष्ट लिख रहे है **पृथिवी के समान मनुष्य आदि प्रजा सूर्य आदि पर रहते है।**

दयानंद के भाष्य में वर्णशंकर

यदि राजा राजपुरुषाश्च परस्त्रीवेश्यागमनाय पशुदद्वर्त्तन्ते, तान् सर्वे विद्वांस: शूद्रानिव जानन्ति यथा शूद्र आर्य्यकुले जारो भूत्वा सर्वान् **संकरयति**, तथा **ब्राह्मणक्षत्रियवेश्या: शूद्रकुले व्यभिचारं कृत्वा वर्णसंकरनिमित्ता भूत्वा नश्यन्ति॥** ३१॥

अर्थ-जो राजा और राजपुरुष परस्त्री, वेश्यागमन के लिए पशु के समान अपना वर्त्ताव करते हैं, उनको सब विद्वान शूद्र के समान जानते हैं। जैसे शूद्र मूर्खजन श्रेष्ठों के कुल में व्यभिचारी होकर सब को **वर्णसंकर** कर देता है, वैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शूद्रकुल में व्यभिचार करके **वर्णसंकर** के निमित्त होकर नाश को प्राप्त होते हैं॥ [दयानंदभाष्य यजुर्वेद२३.३१]

(क्षत्तृभ्य:) शूद्वात् क्षत्रियायां जातेभ्य:[संस्कृत]

अर्थ-क्षत्रिय की स्त्री में शूद्र से उत्पन्न हुए वर्णसंकर के लिये [हिंदी]

समीक्षा- "**(क्षत्तृभ्य:)** शूद्रात् क्षत्रियायां जातेभ्य:" यहाँ वर्णसंकर शब्द संस्कृत में नहीं है लेकिन दो भिन्न वर्ण से उत्पन्न संतान को वर्णसंकर कहते है।[manusmriti 10.24] इसको स्वामी दयानंद जी ने माना है। (यजुर्वेद२३.३१= ब्राह्मण, क्षत्रिय और वेश्य शूद्रकुल में व्यभिचार करके **वर्णसंकर** के निमित्त होकर नाश को प्राप्त होते हैं; "**वर्णानां व्यभिचारेण"-** manusmriti 10.24)

"जैसे पुरुष जिस-जिस वर्ण के योग्य होता है वैसे ही स्त्रियों की भी व्यवस्था समझनी चाहिये। इससे क्या सिद्ध हुआ कि इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभावयुक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं। अर्थात् ब्राह्मणकुल में कोई क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे। और क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते है। **अर्थात वर्णसंकरता प्राप्त न होगी**। इससे किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी न होगी"[sp4]

"मनु ने यहां चार वर्णों की मान्यता अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित की है। मनुस्मृति में अन्यत्र भी चार वर्णों का ही वर्णन है।चार वर्णों की दीक्षा से रहित अन्य सभी व्यक्ति दस्यु हैं [१०.४५], अन्य वर्णसंकर आदि संज्ञक कोई वर्ण या जाति नहीं है। इस श्लोक की पुष्टि के लिए मनुस्मृति के निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य हैं-- १.३१, ८७-९१; ३.२०; ७५.५७; ७.६८; १०.४५, ६५, १३१; १२.९७ आदि। वर्णसंकरों की कल्पना जन्मना जातिवाद की है"[सुरेन्द्र कुमार,विशुद्ध मनुस्मृति,10.4, p550]

"दो विभिन्न वर्ण व्यक्तियों के सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तान को 'वर्णसंकर ' कहते हैं," [सुरेन्द्र कुमार,विशुद्ध मनुस्मृति 8.353, p472]

"स्पष्ट है कि वर्णसंकरों का कथन मनु का प्रतिपाद्य ही नहीं है" [सुरेन्द्र कुमार,विशुद्ध मनुस्मृति १.२, p४]

सुरेन्द्र कुमार जी अपनी पुस्तक में स्पष्ट रूप से इस बात को कह रहे हैं कि वर्णसंकर शब्द जातिवाद की उपज है। अर्थात वर्णसंकर शब्द जन्मना जातिवाद के कारण उत्पन्न हुई। जिस समय कर्म के कारण वर्ण का निर्धारण होता था। उस समय वर्णसंकर जैसा कुछ शब्द था ही नहीं और मनु 'वर्णसंकर' को नहीं मानते या मनुके समय वर्णसंकर शब्द नहीं था। अब प्रश्न यह उठता है कि जब वर्णसंकर शब्द जातिवाद की उपज है, तो इस नवीन शब्द को ऋषि दयानंद सरस्वती वेद में क्यों लिख रहे हैं? वेद में वर्णसंकर शब्द का लिखना यह सिद्ध करता है, की दयानंद सरस्वती के मुताबिक वर्णसंकर शब्द प्राचीन है और उसका वर्णन वेदों में है। यहाँ पर स्पष्ट रूप से सुरेन्द्र कुमार ऋषि दयानंद के विरोधी दिखाई देते हैं।

ब्रह्ममुनि द्वारा दयानन्द के सूक्ष्म शरीर सिद्धान्त का खण्डन

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार सूक्ष्म शरीर सत्रह तत्त्वों से निर्मित होता है। वे पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म भूत, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वों का समुदाय सूक्ष्म शरीर मानते हैं। परन्तु आर्यसमाज के ही प्रख्यात विद्वान, वेदभाष्यकार तथा सांख्यदर्शन के भाष्यकार स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने इस मत का स्पष्ट खण्डन किया है।

सांख्यदर्शन (३.९) के सूत्र **"सप्तदशैकं लिङ्गम्"** की व्याख्या करते हुए ब्रह्ममुनि लिखते हैं कि सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों की संख्या वास्तव में अठारह है, सत्रह नहीं। वे बताते हैं कि अनिरुद्धाचार्य ने भी लिङ्गशरीर को अठारह तत्त्वों का माना है—बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच तन्मात्राएँ तथा दस इन्द्रियाँ; कुल मिलाकर अठारह तत्त्व।

विज्ञानभिक्षु ने यद्यपि बाह्य रूप से सत्रह तत्त्वों का समर्थन करने का प्रयास किया, किन्तु उन्होंने भी अहंकार को नकारा नहीं, बल्कि उसे बुद्धि में अन्तर्भूत मान लिया। ब्रह्ममुनि इस व्याख्या की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि अहंकार को स्वतंत्र तत्त्व मानकर सांख्य के

पच्चीस तत्त्वों में पृथक् गिना गया है, तो उसे बुद्धि में विलीन मानना कृत्रिम और तर्कविरुद्ध है। वस्तुतः पदार्थों की संख्या वहाँ भी अठारह ही रहती है; केवल गणना की शैली बदल दी जाती है।

ब्रह्ममुनि का तर्क है कि यदि सूत्रकार का उद्देश्य केवल सत्रह तत्त्व बताना होता, तो वे सीधे "सप्तदश" शब्द का प्रयोग करते। किन्तु सूत्र में "सप्तदश" और "एकम्" दोनों पदों का पृथक् प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि सत्रह तत्त्वों के अतिरिक्त एक और तत्त्व स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार—

- पाँच तन्मात्राएँ = 5
- ग्यारह इन्द्रियाँ (मन सहित) = 11
- अहंकार = 1

कुल = 17

इनके अतिरिक्त—

- महत्तत्त्व (बुद्धि) = 1

अर्थात् कुल संख्या = 18

ब्रह्ममुनि यह भी स्पष्ट करते हैं कि सूत्र में "एकं लिङ्गम्" कहकर महत्तत्त्व अथवा बुद्धि की विशेष प्रधानता प्रदर्शित की गई है। इसलिए उसे अलग से गिना गया है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे पंचमहाभूतों से बने शरीर को पृथ्वी की प्रधानता के कारण "पार्थिव" कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त वे विज्ञानभिक्षु की उस व्याख्या का भी खण्डन करते हैं जिसमें एक ही लिङ्गशरीर की बात कही गई है। ब्रह्ममुनि के अनुसार प्रत्येक जीव का सूक्ष्म शरीर पृथक् होता है, क्योंकि प्रत्येक जीव के कर्म, संस्कार, सुख-दुःख और पुनर्जन्म अलग-अलग हैं। यदि सूक्ष्म शरीर एक ही माना जाए, तो व्यक्तिगत कर्मफल और भोग की व्यवस्था असंगत हो जाती है। वे इस समर्थन में सांख्यदर्शन तथा वेदान्तदर्शन दोनों का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार आर्यसमाज के ही एक प्रमुख आचार्य और सांख्यदर्शन के भाष्यकार स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने दयानन्द सरस्वती के सत्रह तत्त्व वाले सूक्ष्म शरीर सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया, बल्कि विस्तृत तर्कों के आधार पर सूक्ष्म शरीर के अठारह तत्त्व सिद्ध किये। इससे स्पष्ट होता है कि यह विषय स्वयं आर्यसमाज के विद्वानों में भी विवादरहित नहीं रहा और दयानन्द का मत अन्तिम अथवा सर्वमान्य नहीं माना गया।

ब्राह्मण ही वेद

इस में जो विशेष देखना चाहें तो मेरी बनाई "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ' में देख लीजिये। **वहां अनेकश: प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता ऐसा ही सिद्ध किया गया है।**[sp7]

एक कात्यायन को छोड़कर किसी अन्य ऋषि ने उनके वेद होने में साक्षी नहीं दी है।[rigvedadi., vedsangyavichar]

और कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेदसंज्ञा होने में वचन है, सो सहचार उपाधि लक्षणा से किया हो तो भी नहीं बन सकता। क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'उस लकड़ी को भोजन करा दो' और दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ

होने से भोजन नहीं कर सकती, किन्तु जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उसको भोजन कराना चाहिए इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता **क्योंकि इस में अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है।** [rigvedadi., vedsangyavichar]

समीक्षा- प्रमाणों के विरुद्ध होने से कोई वचन गलत हो सकता है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उस ऋषि ने वह वचन लिखा ही नहीं। क्या एक ऋषि की बात प्रमाण होने के लिए अन्य ऋषि का वही बात बोलना आवश्यक है? ये कौन सा नियम है? इस प्रकार तिब्बत में मनुष्य धरती फाड़ के निकले इसमे कितने ऋषि प्रमाण है? कात्यायन ने यदि यह लिखा है तो क्या समाजी कात्यायन के वचन को नहीं मानते? अत: दयानंद सरस्वती का यह लिखना की "**वहां अनेकश: प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता"** ठीक नहीं है। क्योकि प्रमाण विरुद्ध होने से यह सिद्ध नहीं होता की ये वचन कात्यायन का नहीं है।

और कोई ऐसा प्रमाण नहीं जो ब्रह्मण के वेद होने का निषेध करता हो, कात्यायन ने **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** वचन नहीं पढ़ा इसके पक्ष में स्वामी दयानंद से अच्छे तो विद्यानंद जी के तर्क है-

"वस्तुत: कात्यायनश्रौतसूत्रों में यह वचन कहीं नहीं है। कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध प्रतिज्ञापरिशिष्ट में यह अवश्य मिलता है। कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध दो प्रतिज्ञापरिशिष्ट हैं-एक श्रौतसूत्र से सम्बद्ध और दूसरा प्रातिशाख्य से। उनमें से प्रातिशाख्य से सम्बद्ध परिशिष्ट में यह सूत्र मिलता है, श्रौतसूत्र से सम्बद्ध में नहीं। वस्तुतः इस परिशिष्ट का कात्यायनकृत होना ही सन्दिग्ध है। यदि यह कात्यायनसम्मत होता तो आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्रों के समान उनके श्रौतसूत्रसम्बद्ध परिशिष्ट में होता, न कि प्रातिशाख्यसम्बद्ध में । वहाँ न होने से प्रतीत होता है कि कात्यायन को ब्राह्मणों का वेदत्व इष्ट नहीं है"[satyarth Bhaskar,swami vidyanand]

लेकिन यहाँ पर बात ये है कि परिशिष्ट बोलकर तो आप कात्यायन श्रोतसूत्र, आपस्तम्ब श्रोतसूत्र से बच सकते हैं, लेकिन इसके अन्य भी प्रमाण है। जहाँ पर परिशिष्ट बोलकर नहीं भागा जा सकता है-

महर्षि बोधायन

मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते ।२।
मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।३। [बौधायनगृह्यसूत्रम्, द्वितीयप्रश्ने षष्ठो ऽध्यायः]

महर्षि सत्याषाढः

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।[श्रौतसूत्राणि, हिरण्यकेशिः/सत्याषाढः श्रौतसूत्रम्/प्रश्नः ०१]

महर्षि कौशिक

आम्नाय : पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च ।[कौशिक सूत्र १.3**]**

संभवतः इसीलिए पंडित युधिष्ठिर मीमांसक ने परिशिष्ट बोलकर समय नहीं गवाया क्योंकि उनको पता था कि ये वचन अन्य स्थान पर भी उपलब्ध है। इसीलिए युधिष्ठिर मीमांसक ने इन वचनों को अर्थात ब्राह्मण को वेद कहने वाले वचनों को परिभाषा प्रकरण में माना है। उन्होंने इस बात को भी स्वीकार किया है की ऋग आदि का मुख्य नाम वेद है परन्तु ब्राह्मण को भी गौण रूप से वेद कहा गया है।

"एक कात्यायन को छोड़कर किसी अन्य ऋषि ने उनके वेद होने में साक्षी नहीं दी है"..... "क्योंकि इस में अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है" यह बोलना झूठ है। क्योकि कात्यायन के अतिरिक्त भी अन्य ऋषियों के प्रमाण उपस्थित है।

योग द्वारा दुसरे मनुष्य के शरीर में प्रवेश

जो योगी पुरुष तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणा, ध्यान, समाधिरूप संयम) के बल को प्राप्त हो, अनेक प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करके, अनेक शिर, नेत्र आदि अंगो से देखने आदि कार्यों को कर सकता है, अनेक पदार्थों वा धनों का स्वामी भी हो सकता है, उसका हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिये।[दयानंदभाष्य, भावार्थ, यजुर्वेद १७.71]

समीक्षा- अब इसका खंडन भी क्या करू। जो लोग इसको सत्य मानते हैं, भगवान उनकी बुद्धि का भला करें और जो लोग कहते हैं कि आर्य समाज में कोई चमत्कार नहीं होते तो ये देख लो योगी बनो और अपनी आत्मा किसी दूसरे के शरीर में डाल दो। उसके शरीर के मालिक हो जाओ, उसकी आंख से देखो, उसके धन के स्वामी हो जाओ। मतलब अगर कोई व्यक्ति योगी हो जाये तो वो अपनी आत्मा मुकेश अंबानी के शरीर में डाल करके उसके सारी संपत्ति का मालिक हो सकता है। मैं सोचता हूँ कि फिर प्राचीन काल में इतने युद्ध क्यों हुए होंगे? क्योंकि ऋषि तो थे ही जो व्यक्ति युद्ध करना चाहता उसके शरीर में घुस जाते और फिर वही करते जो वो चाहते हैं और युद्ध रुक जाता।

मूर्ति पूजा हजार हत्या के समान पाप-

प्रश्न १६ - रामलीला देखना दोष है ?

उत्तर- हां दोष है। हजार हत्या के समान दोष है। और इसी प्रकार मूर्तिपूजा करना हजार हत्या के समान है; क्योंकि बिना आकृति के प्रतिबिम्ब नहीं उतर सकता और जबकि उसकी आकृति नहीं तो मूर्ति कैसी? यदि किसी का फोटोग्राफ से या और किसी प्रकार यथार्थ प्रतिविम्ब उतार कर संस्मरण और देखने के लिये सम्मुख रखा जाये तो वह ठीक है परन्तु उसकी अर्थात् ब्रह्म की मूर्ति और आकृति बनाना और प्रतिलिपि की प्रतिक्षिपि बनाकर कुछ का कुछ कर देना नितान्त अशुद्ध और अनुचित है ।[27 सितंबर से 1 नवंबर. अध्याय 7, लेखक :- देवेन्द्रनाथ जी, पुस्तक :- दयानन्द जी का जीवनी] [पत्र एवं विज्ञापन]

समीक्षा- जो मूर्ति पूजा में बलि आदि देते है उसके लिए स्वामी जी अगर इस प्रकार का कथन करते तो ठीक भी था क्योंकि प्राणियों की हत्या से पाप तो लगता ही है। लेकिन जो सामान्य रूप से किसी मूर्ति की पूजा करता है, उससे 1000 हत्या का पाप कैसे लग सकता है? ये कैसा न्याय है और किस शास्त्र में लिखा है? मूर्ति पूजा से 1000 हत्या का पाप ये स्वामीजी सामान्य रूप से कह रहे हैं। यहाँ पर ऐसा नहीं है कि कोई मूर्तिपूजा में बलि दे रहा है तो उसके लिए कहा जा रहा है। यह सामान्य रूप से कह रहे हैं, जो भी मूर्ति पूजता है वह 1000 हत्या के समान पापी है। मूर्ति पूजा तो और, जो रामलीला भी देखता है, वह भी 1000 हत्या के समान पापी है। रामलीला में हो सकता है कि राम जी का मजाक बने। उस दृष्टि से बोला हो। परन्तु फिर भी 1000 हत्या? ऐसा नहीं है कि रामलीला में हर जगह राम जी का अपमान होता है लोगों के पास पहले टीवी नहीं था, मोबाइल फ़ोन नहीं थे। उतने लोग पुस्तक नहीं पढ़ते थे। लोग अनपढ़ थे वह पुस्तक कैसे पढ़ पाते। उनके लिए एक ऐसी प्रस्तुति करना है जहाँ पर राम, सीता, तथा रामायण के अन्य पात्रो का मंच पर प्रस्तुतीकरण हो रामायण के किसी भाग को मंच पर बड़े ही सुंदर तरीके से दिखाया गया हो इससे भी लोगो में रामायण का ज्ञान दिया जाता था रामकथा को जीवित रखने का यह एक स्वरूप था ऐसे ही हमारे पूर्वजों ने रामकथा को बना कर रखा है। समाज में इसको बचाकर रखा। बहुत लोग शिक्षा रहित थे अक्षर ज्ञान नहीं था परंतु राम जी की कथा का उनको ज्ञान अवश्य होता था। वो सब इन्हीं माध्यमों से जानते थे क्योंकि पहले इतना संचार का माध्यम नहीं था। आज लोग साक्षर अवश्य हो गए हैं। उनके हाथ में मोबाइल फ़ोन टीवी संचार के नए नए माध्यम है। फिर भी नए नए बच्चे आजकल रामजी उनके व्यक्तित्व के बारे में कुछ नहीं जानते। उनके इतिहास के बारे में कुछ नहीं जानते। रामानंद सागर ने जो रामायण बनाई वो भी एक नाटक ही है, वो भी एक राम लीला ही है अंतर इतना है की बस उसको रिकार्ड करके टीवी पर हमको दिखाया जाता है। क्या सब हजार हत्या के दोषी हो गए? जिन करोडो लोगो ने रामायण देखा वह भी हजार लोगो की हत्या के दोषी हो गए?

तार विद्या : वेदों में विज्ञान या वेदों में आधुनिक विज्ञान का आरोप?

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में एक ऋग्वैदिक मन्त्र की व्याख्या करते हुए "तारविद्या" का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार पृथ्वी से प्राप्त धातुओं, काष्ठादि यन्त्रों तथा विद्युत् के प्रयोग से तारविद्या सिद्ध होती है। वे आगे लिखते हैं कि इस तारविद्या के माध्यम से दूर और निकट के व्यवहारों का प्रकाश होता है, युद्ध में सहायता मिलती है तथा अनेक प्रकार के व्यवहार सम्पन्न किए जा सकते हैं।

प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में यह मन्त्र टेलीग्राफ (Telegram), विद्युत्-तार अथवा आधुनिक संचार-व्यवस्था का वर्णन करता है, अथवा यह आधुनिक ज्ञान को वेदों में आरोपित करने का प्रयास है?

इस विषय में सुरेन्द्र कुमार अज्ञात ने दयानन्द की व्याख्या की आलोचना करते हुए लिखा है—

“वेदों के विज्ञान संबंधी विमर्श को समाप्त करने से पहले एक विषय की और चर्चा करना चाहूंगा। यह विषय है तार विद्या। तार विद्या के नाम से स्वामी दयानन्द जी ने बिजली, बिजली के तार और टेलीग्राम (तार) सभी को वेदों से सिद्ध करना चाहा है।”

वास्तव में दयानन्द की व्याख्या का परीक्षण करने पर अनेक भाषिक कठिनाइयाँ दिखाई देती हैं। उदाहरणार्थ, एक ही मन्त्र में "पेदवे" शब्द के अलग-अलग अर्थ किए गए हैं, जिनमें कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं है। "श्वेतम्" का सामान्य अर्थ "श्वेत" अथवा "सफेद" है, किन्तु यहाँ उसका अर्थ "शुद्ध धातुओं का तार" किया गया है। इसी प्रकार "तरुतारम्" शब्द में "तार" देखकर उसका अर्थ "तार नामक यन्त्र" अर्थात् टेलीग्राफ कर दिया गया है।

संस्कृत में "तार" शब्द का अर्थ धागा, सूत्र अथवा तन्तु होता है। टेलीग्राफ के अर्थ में इसका प्रयोग आधुनिक काल में प्रचलित हुआ। केवल शब्द-साम्य के आधार पर किसी आधुनिक आविष्कार को वेदों में सिद्ध करना भाषाशास्त्रीय दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्वामी दयानन्द सामान्यतः परम्परागत अर्थों का विरोध करते हुए यौगिक व्याख्या पर बल देते हैं। किन्तु यहाँ तारविद्या सिद्ध करने के लिए वे ऐसे अर्थ स्वीकार करते प्रतीत होते हैं जो न तो वैदिक सन्दर्भ में प्रसिद्ध हैं और न ही उनके अपने व्याख्यान-सिद्धान्तों से स्वाभाविक रूप से निकलते हैं। इससे यह शंका उत्पन्न होती है कि निष्कर्ष पहले निश्चित कर लिया गया और उसके समर्थन में मन्त्र की व्याख्या की गई।

दयानन्द के इस मत का समर्थन करते हुए स्वामी विद्यानन्द ने *भूमिका भास्कर* में लिखा—

“इंग्लैण्ड में पहली बार १८६२ में तार द्वारा समाचार भेजा गया था। भारत में इसके बहुत बाद तार का प्रचलन हुआ। उस समय (१८७६) तक ग्रन्थकार को इसकी कोई जानकारी नहीं रही होगी। इसलिए यहाँ उन्होंने जो कुछ लिखा है, साक्षात् वेद के आधार पर ही लिखा है।”

किन्तु इस कथन में कई समस्याएँ हैं।

सबसे पहले, स्वामी विद्यानन्द स्वयं निश्चित भाषा का प्रयोग नहीं करते। वे यह नहीं कहते कि “ग्रन्थकार को जानकारी नहीं थी”, बल्कि लिखते हैं कि “जानकारी नहीं रही होगी।” यह अनुमानसूचक वाक्य है, न कि ऐतिहासिक तथ्य। यदि स्वयं लेखक निश्चित नहीं है कि दयानन्द को तारविद्या का ज्ञान था या नहीं, तो यह निश्चित रूप से कैसे कहा जा सकता है कि यह व्याख्या केवल वेद के आधार पर की गई थी?

दूसरे, स्वामी विद्यानन्द का यह ऐतिहासिक कथन भी तथ्यगत रूप से त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। टेलीग्राफ का पहला प्रसिद्ध सार्वजनिक संदेश २४ मई १८४४ को अमेरिका में भेजा गया था। भारत में भी १८५४ में मुम्बई और पुणे के बीच पहला टेलीग्राफ संदेश भेजा जा चुका था। अतः यह कहना कि भारत में इसका प्रचलन बहुत बाद में हुआ, इतिहास से मेल नहीं खाता।

इसके अतिरिक्त, स्वामी दयानन्द के जीवन-वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि १८६४-६५ में ग्वालियर में आयोजित भागवत-सप्ताह हेतु विभिन्न नगरों के विद्वानों को तार द्वारा निमन्त्रण भेजे गए थे। लेखराम लिखते हैं कि काशी, पूना, सितारा, अहमदाबाद, हैदराबाद, नासिक आदि स्थानों के पण्डितों को तार द्वारा सूचना दी गई थी। इसी काल में स्वामी दयानन्द ग्वालियर पहुँचे और भागवत का खण्डन किया।

इससे स्पष्ट होता है कि १८६० के दशक में ही तार-व्यवस्था भारत के शिक्षित वर्ग तथा धार्मिक आयोजनों तक पहुँच चुकी थी। ऐसे में यह मान लेना कि १८७६ तक स्वामी दयानन्द को तारविद्या की कोई जानकारी नहीं थी, एक अत्यन्त दुर्बल अनुमान प्रतीत होता है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका का लेखन २० अगस्त १८७६ को आरम्भ हुआ, जबकि भारत में टेलीग्राफ को प्रचलित हुए दो दशक से अधिक समय बीत चुका था। इसलिए उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्य इस संभावना को अधिक बल देते हैं कि दयानन्द तारविद्या से परिचित थे।

किन्तु यहाँ मूल प्रश्न दयानन्द की व्यक्तिगत जानकारी का नहीं है। मान लिया जाए कि उन्हें तारविद्या का ज्ञान था अथवा नहीं था, तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि ऋग्वैदिक मन्त्र वास्तव में टेलीग्राफ का वर्णन कर रहा है। किसी भी दावे को स्वीकार करने के लिए भाषिक, व्याकरणिक तथा ऐतिहासिक प्रमाण अपेक्षित होते हैं। केवल आधुनिक विज्ञान के साथ कुछ शब्दों का साम्य स्थापित कर देना पर्याप्त नहीं है।

यदि किसी भी आधुनिक आविष्कार को वेदों में सिद्ध करने के लिए शब्दों के अर्थों को मनमाने ढंग से बदला जाने लगे, तो उसी पद्धति से वेदों से असंख्य आधुनिक वस्तुएँ सिद्ध की जा सकती हैं। ऐसी स्थिति में व्याख्या और कल्पना के बीच की सीमा समाप्त हो जाती है।

वेदों का महत्व इस बात पर निर्भर नहीं करता कि उनमें टेलीग्राफ, रेलगाड़ी, विमान या आधुनिक विज्ञान के अन्य आविष्कार खोजे जाएँ। जब दुर्बल तर्कों के आधार पर वेदों को आधुनिक विज्ञान का भण्डार सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है, तब अन्ततः सबसे अधिक हानि स्वयं वैदिक परम्परा की विश्वसनीयता को होती है। अतः किसी मन्त्र का अर्थ उसके भाषिक और ऐतिहासिक सन्दर्भ में करना ही अधिक उचित और बौद्धिक रूप से ईमानदार पद्धति है।

वेदों से विज्ञान निकालने की परम्परा

वेदों में आधुनिक विज्ञान खोजने की परम्परा का सबसे प्रमुख नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती का है। यद्यपि उनसे पूर्व भी अनेक व्याख्याकारों ने वेदों के विविध अर्थ किये थे, किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों और सिद्धान्तों को वेदों में खोजने का व्यवस्थित प्रयास दयानन्द के यहाँ विशेष रूप से दिखाई देता है। तारविद्या, विमानविद्या तथा अन्य वैज्ञानिक व्याख्याएँ इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं।

इसी संदर्भ में सुरेन्द्र कुमार अज्ञात लिखते हैं—

"इसीलिए वेदों से विज्ञान निकालने वालों के आदि आचार्य स्वामी दयानन्द जी ने इस से किसी रॉकेट को सिद्ध करने की कोशिश नहीं की। वैसे इसका कारण यह भी हो सकता है कि उन दिनों रॉकेट नाम की कोई चीज थी ही नहीं। होती तो शायद वे इस मन्त्र का अर्थ और तरह से करते।"

यह टिप्पणी व्यंग्यात्मक अवश्य है, किन्तु एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाती है—क्या वेदों के मन्त्रों का अर्थ वास्तव में उनके मूल सन्दर्भ से किया जा रहा है, या आधुनिक ज्ञान को उनमें आरोपित किया जा रहा है?

वेदों में विज्ञान खोजने की इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप अनेक लेखकों ने वैदिक शब्दों के ऐसे अर्थ प्रस्तुत किये हैं जिनका पारम्परिक अथवा भाषाशास्त्रीय आधार अत्यन्त दुर्बल प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ—

- वरुण = हाइड्रोजन

- मित्र = ऑक्सीजन
- उर्वशी = बिजली
- अप्सरा = बिजली
- नारद = बादल
- ऐरावत = बादल
- गन्धर्व = बादल
- अग्नि = धनध्रुव
- क्षत्र = ऋणध्रुव
- सोम = ऋणध्रुव

इन अर्थों का संकलन हसराज अग्रवाल की पुस्तक *साइंस इन द वेदाज* से किया गया है।

यहाँ समस्या केवल इतनी नहीं है कि ये अर्थ परम्परागत अर्थों से भिन्न हैं। समस्या यह है कि इनके समर्थन में प्रायः कोई स्पष्ट व्याकरणिक, निरुक्तीय अथवा प्रसंगगत आधार प्रस्तुत नहीं किया जाता। फलतः ऐसा प्रतीत होता है कि पहले आधुनिक वैज्ञानिक अवधारणा निश्चित कर ली जाती है और फिर उसके अनुरूप वैदिक शब्दों को अर्थ प्रदान कर दिया जाता है।

इस प्रवृत्ति का एक अत्यधिक विकसित रूप आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक के लेखन में दिखाई देता है। उन्होंने अपने ग्रन्थ *वेद विज्ञान आलोक* में अनेक वैदिक एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के ऐसे वैज्ञानिक अर्थ प्रस्तुत किये हैं जिनमें आधुनिक भौतिकी, नाभिकीय विज्ञान, खगोलशास्त्र तथा ऊर्जा-सिद्धान्तों को वैदिक साहित्य में खोजने का प्रयास किया गया है।

उदाहरणार्थ, एक ब्राह्मण-वचन की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि सूर्य आदि तारों के भीतर हाइड्रोजन के नाभिक केन्द्र की ओर गति करते हैं, मरुत् उन्हें रोकने अथवा नष्ट करने की क्षमता रखते हैं, तथा विशेष छन्दों से उत्पन्न तरंगें उन नाभिकों की गति को नियंत्रित करती हैं।

किन्तु जब मूल ब्राह्मण-पाठ को देखा जाता है, तो उसमें न हाइड्रोजन का उल्लेख है, न नाभिक का, न परमाणु-संलयन (nuclear fusion) का और न ही आधुनिक भौतिकी की किसी अवधारणा का। मूल पाठ का प्रसंग मरुद्देवताओं, यज्ञ और यजमान से सम्बन्धित है। परम्परागत भाष्यकारों ने भी उसका अर्थ इसी धार्मिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ में किया है।

यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि वैदिक साहित्य में प्रकृति सम्बन्धी विचार हैं या नहीं। प्रश्न यह है कि क्या किसी ग्रन्थ में ऐसे वैज्ञानिक सिद्धान्त खोजे जा सकते हैं जिनका उल्लेख उस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कहीं नहीं है?

यदि किसी मन्त्र या ब्राह्मण-वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द को उसके प्रसंग से पृथक् करके मनचाहा वैज्ञानिक अर्थ दे दिया जाए, तो उसी पद्धति से किसी भी ग्रन्थ से किसी भी आधुनिक सिद्धान्त को सिद्ध किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में व्याख्या की कोई वस्तुनिष्ठ सीमा नहीं रह जाती।

वास्तविक वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह नहीं है कि आधुनिक विज्ञान को प्राचीन ग्रन्थों में किसी भी प्रकार खोज लिया जाए, बल्कि यह है कि प्रत्येक ग्रन्थ को उसके ऐतिहासिक, भाषिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ में समझा जाए। वेदों का महत्व इस बात पर निर्भर नहीं करता कि

उनमें हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाभिकीय संलयन या विद्युत् सिद्ध की जा सके। उनका मूल्य उनके दार्शनिक, धार्मिक और सांस्कृतिक योगदान में है।

जब बिना पर्याप्त भाषिक और ऐतिहासिक प्रमाणों के वेदों में आधुनिक विज्ञान सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है, तब उसका परिणाम ज्ञान-वृद्धि नहीं, बल्कि बौद्धिक भ्रम उत्पन्न करना होता है। इससे न विज्ञान को लाभ होता है और न ही वैदिक साहित्य की प्रतिष्ठा को।

वेदों में मिलावट

"स्वामी हरिप्रसाद ने लिखा है कि वर्तमान संहिताओं में बहुत-सा भाग प्रक्षिप्त है और बहुत-सा भाग पुनरुक्त है, इसलिए हम यहाँ इन दोनों विषयों की भी आलोचना करके देखते हैं कि इस आरोप में कहाँ तक सत्यांश है।

प्रक्षेप और पुनरुक्ति

जहाँ तक हमें ज्ञात है अब तक एक भी प्रमाण इस प्रकार का नहीं उपस्थित किया गया कि अमुक स्थल प्रक्षिप्त है और इसे आज तक कोई नहीं जानता था। जिन स्थानों को प्रक्षिप्त बतलाया जाता है वे बहुत दिन से - ब्राह्मणकाल से सबको ज्ञात हैं। **वे प्रक्षिप्त नहीं हैं, किन्तु एक प्रकार के परिशिष्ट हैं** जो लेखकों और प्रेसवालों की असावधानी से मूल में घुसकर मूल जैसे प्रतीत होते हैं। **बालखिल्य सूक्त ऋग्वेद में, खिल अर्थात् ब्राह्मणभाग यजुर्वेद में, आरण्यक और महानाम्नी सूक्त सामवेद में और कुन्तापसूक्त अथर्ववेद में मिले हुए हैं।** इनको सब लोग जानते हैं और सबके विषय में विस्तृत प्रमाण उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ स्थल यजुर्वेद और अथर्ववेद में और हैं जिनकी सूचना उन्हीं वाक्यों से हो जाती है कि वे प्रक्षिप्त हैं। कहने का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार शाखाओं का गड़बड़ सबको ज्ञात है और शुद्ध वैदिक शाखाएँ उपलब्ध हैं, उसी प्रकार प्रक्षिप्त भाग का भी ज्ञान सबको है और उसको हटाकर शुद्धसंहिताओं के रूप को सब जानते हैं। ऋग्वेद के बालखिल्य सूक्तों के लिए ऐतरेयब्रा० २८। ८ में लिखा है कि **'वज्रेण बालखिल्याभिर्वाचः कूटेन'**। इसके भाष्य में सायणाचार्य कहते हैं कि **'बालखिल्य- नामकाः केचन महर्षयस्तेषां सम्बन्धीन्यष्टौ सूक्तानि विद्यन्ते तानि बालखिल्यनामके ग्रन्थे समाम्नायन्ते '**, अर्थात् बालखिल्य नाम के कोई महर्षि थे। उनसे सम्बन्ध रखनेवाले आठ सूक्त हैं। वे खिल्य नाम के ग्रन्थ में लिखे गये हैं। इस वर्णन से ज्ञात हुआ कि बालखिल्य सूक्तों की अलग पुस्तक थी। वही पुस्तक ऋग्वेद के परिशिष्ट में आ गई है और अब तक अथ बालखिल्य और इति बालखिल्य के साथ ऋग्वेद में ही सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त अनुवाकानुक्रमणी में स्पष्ट लिखा हुआ है कि **'सहस्रमेतत्सूक्तानां निश्चितं खैलिकैर्विना'**, अर्थात् खिल भाग को छोड़कर ऋग्वेद के एक सहस्र सूक्त निश्चित हैं। यहाँ बालखिल्यों को ऋग्वेद की गिनती में नहीं गिना गया। इस प्रकार ऋग्वेद का खिल सबको ज्ञात है।

इसी प्रकार यजुर्वेद का मिश्रण भी प्रसिद्ध है। सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि **'माध्यन्दिनीये वाजसनेयके यजुर्वेदाम्नाये सर्वे सखिले सशुक्रिय ऋषिदैवतछन्दास्यानुक्रमिष्यामः'**, अर्थात् ऋचा, खिल और शुक्रिय मन्त्रों के सहित माध्यन्दिनीय यजुर्वेद के ऋषि, देवता और छन्दों की अनुक्रमणी बनाता हूँ। यहाँ खिल भाग का प्रत्यक्ष संकेत है। इसके आगे अनुक्रमणी में ही लिखा हुआ है कि **'देवा यज्ञं ब्राह्मणानुवाकोविंशतिरनुष्टभः सोमसम्पत्',** अर्थात् यजुर्वेद १९। १२ के **'देवा यज्ञमतन्वत'** मन्त्र से लेकर बीस अनुष्टुप्छन्द ब्राह्मणभाग हैं और **'अश्वस्तूपरो ब्राह्मणाध्यायः शादंदद्धिस्त्वचान्तश्च'**, अर्थात् यजुर्वेद का चौबीसवाँ अध्याय सबका सब और २५ वें अध्याय के आरम्भ के शादं से लेकर त्वचा तक नौ मन्त्र ब्राह्मण हैं और **'ब्राह्मणे ब्राह्मणमिति द्वे काण्डिके तपसे अनुवाकश्च ब्राह्मणम्'**, अर्थात् यजुर्वेद अध्याय ३० के **'ब्राह्मणे ब्राह्मणम्'** और शेष सारा अध्याय ब्राह्मण है।; [वैदिक सम्पति,p503]

वैसे इसका खंडन महात्मा नारायणस्वामी ने अपने पुस्तक वैदिक रहस्य के पृष्ठ 60 पे किया है। वहाँ पर जाकर इसको विस्तार से पढ़ा जा सकता है।

"ऐतरेय ब्राह्मण के २८।८ में लिखा है **'वज्रेण बालाखिल्याभिर्वाचः कूटेन ।'** इस वाक्य के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है कि बालखिल्य नाम के कोई महर्षि थे। उनसे सम्बन्ध रखने वाले आठ सूक्त हैं। वे बालखिल्य नाम के ग्रन्थ में लिखे गये हैं।(बालखिल्यनामकाः केचन महर्षयः तेषां सम्बन्धीन्यष्टौ सूक्तानि विद्यन्ते तानि बालखिल्यनामके ग्रन्थे समाम्नायन्ते । - सायणाचार्य ॥)

इस पर हमारा कहना है कि ऐतरेय ब्राह्मण का यह वाक्य इतना स्पष्ट नहीं है जैसा उसे शर्मा जी ने समझा है। यदि यह मान भी लिया जाये तो उसके अन्त के अध्याय प्रक्षिप्त बतलाये जाते हैं।* शर्मा जी का दिया हुआ प्रमाण इसी प्रक्षिप्त भाग के अन्तर्गत है इसलिए कोई अप्रामाणिक लेख किसी दूसरे को अप्रमाणित करने में प्रमाण किस प्रकार माना जा सकता है ? सायणाचार्य का कोई (केचन) शब्द स्वयं बतलाता है कि उसको बालखिल्य किसी कथित महर्षि का कुछ ज्ञान नहीं था । उसने ऐसा प्रतीत होता है कि बिना किसी प्रमाण के ही बाखखिल्य ऋषि और उनके कथित बालखिल्य ग्रन्थ की कल्पना कर ली। देशी और विदेशी विद्वानों ने जो संस्कृत साहित्य के इतिहास लिखे हैं उनमें कोई बालखिल्य नामक ग्रन्थ नहीं देखने में आता" [वेद रहस्य, p 60]

* *देखो Encyclopedia Brittanica में प्राचीन संस्कृत Ancient Sanskrit literature सम्बन्धी लेख*

सायन आचार्य ने संस्कृत में 'कोई' (केचन) शब्द लिखा हुआ है। इससे उनके वचन का खंडन नहीं होता कि वह महर्षि नहीं थे। यहाँ पर यह भी संभव है कि उनको बालखिल्य महर्षि के विषय में कुछ ज्यादा इतिहास ज्ञात न हो, लेकिन उन्होंने परंपरा में सुना होगा कि यह कोई बाखखिल्य महर्षि होंगे। दूसरा महात्मा नारायण स्वामी ने रघुनन्दन शर्मा के ऐतरेय ब्राह्मण तथा उसके भाष्य के विरुद्ध *Encyclopedia* का प्रमाण दिया है। इसके विरुद्ध यह Brittanica का प्रमाण कितना योग्य है, वह विद्वान् लोग विचार करे, परन्तु मुझे *Brittanica* पे *Ancient Sanskrit literature* में ऐसा कुछ नहीं मिला। आगे महात्मा जी सर्वानुक्रमणी के प्रमाण पर ही प्रश्न उठा दिया है। अन्यत्र अपने पक्ष में प्रमाण भी लिया है।

दयानंद सरस्वती की अंधभक्ति वैदिक मत नहीं

प्रथम तो किसी की भी अंधभक्ति वैदिक धर्म को विनाश के रास्ते ले जायेगा। हर एक लिखित वाक्य को प्रमाणों से परीक्षा करना सभी मनुष्य का परम धर्म है। शास्त्रों का दयानन्दिकरण करना मुर्खता है, समाज से द्रोह है। क्या सभी पारंपरिक आचार्य मुर्ख थे? दयानंद सरस्वती पर प्रश्न उठाने मात्र से ही आर्य समाजी भड़क जाते है। कई आर्य समाजी के सामने यदि **'दयानंद सरस्वती'** बोल दो तो वो तुरंत आपको टोकेंगे कहेंगे की दयानंद सरस्वती के आगे स्वामी, ऋषि अथवा महर्षि लगाओ। यदि आपने ऋषि आदि नहीं लगाया तो कहेंगे की तुम ऋषियों का अपमान करते हो। एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ की दयानंद का अपमान समस्त ऋषियों का अपमान नहीं है। समाजियों के सिवा दयानंद को ऋषि लगभग किसी ने नहीं माना। अपने आप को तो कोई भी कुछ भी कह ले। वैसे 'दयानंद सरस्वती' यदि कोई बोले इसमे अपमान की क्या बात है? लोग तो प्राचीन ऋषियों को भी इस प्रकार कहते है जैसे व्यास, पतंजलि, कपिल, यास्क आदि। आर्य समाजी यहाँ प्रश्न नहीं उठाएंगे की तुमने व्यास कैसे बोल दिया? उनके नाम के आगे महर्षि लगाओ। लेकिन जैसे ही दयानंद का नाम लिया कहेंगे महर्षि क्यों नहीं लगाया। ये दयानंद सरस्वती के प्रति उनकी कट्टरता को दिखाता है। जिसप्रकार मुसलमानों के सामने मोहम्मद बोल दो तो उनको बहुत बुरा लगता है। कई जगह तो केवल मोहम्मद कहने मात्र से जान से मारने का फतवा निकल जाता है। उनका भी ऐसा ही कहना होता है की इस प्रकार तुम हमारे नबी का अपमान कर रहे हो उनके नाम के आगे हजरत लगाओ या सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम लगाओ ।

कोई किसी का नाम सम्मानपूर्वक ले रहा है, उतना ठीक है उसके बाद उसकी इच्छा की वो 10 उपाधि लगाये अथवा नहीं। दयानंद सरस्वती, आदि शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि नाम यदि कोई बोलता है इसमे मुझे तो कोई अपमान नहीं दिखता।

दयानंद सरस्वती को ब्रह्मवाक्य बना दिया है। प्रचार ऐसा कर दिया है की यदि ऋषि दयानंद के विरूद्ध कुछ लिख दे तो वह वैदिक धर्म का द्रोही हो जाता है। संभवत: इसीलिए आर्य समाज के बड़े बड़े विद्वान् भी स्वामी दयानंद के विरुद्ध लिखने से पहले 10 बार

सोचते है। **पंडित युधिष्ठिर मीमांसक** जैसे विद्वान् को भी दयानंद सरस्वती की समीक्षा करने से पहले लोगो से अनुरोध करना पड़ जाता है। उनको भी इस बात का ज्ञान अवश्य था की आर्य समाजी दयानंद के विरुद्ध कुछ सुनते ही भड़क जाते है -

"**यद्यपि अनेक व्यक्ति लेख का शीर्षक देखकर भड़केंगे,** तथापि हमारा अनुरोध है कि इस लेख में हमने व्यक्ति विशेष का नाम न देकर जो तथ्य सामने रक्खे हैं, उन पर आर्यविद्वान् तथा आर्यजनता गम्भीरता से विचार करें। यदि लेख में प्रस्तुत की गई विचारधारा को समय रहते नहीं रोका गया तो, शीघ्र ही समस्या सामने उपस्थित हो जायेगी" [पंडित युधिष्ठिर मीमांसक]

"ऋषि दयानन्द क्रान्तदर्शी अर्थात् भविष्य के द्रष्टा थे। इस विषय के अनेक प्रमाण ऋ० द० के पत्रों और उनके जीवन चरितों में उपलब्ध होते हैं। उन्हें यहां दोहराने को आवश्यकता नहीं। हम जो बात कहना चाहते हैं उस के सम्बन्ध में अर्थात् **आर्यसमाज की स्थापना की स्वीकृति देते समय उन्होंने जो अपने नाम से मतवाद चलने की आशंका व्यक्त की थी तथा आर्यसमाज स्थापना के इच्छुक अपने अनुयायियों को जो महत्त्वपूर्ण चेतावनी दी थी** उसे हम **'मुम्बई आर्यसमाजनो इतिहास'** जो सन् १९३३ में छपा था, से उद्धृत करते हैं। आशा है समय रहते इस चेतावनी पर ध्यान देकर आर्य-विद्वान् आर्यसमाज को **'दयानन्द-मत'** बनने से बचाने का प्रयत्न करेंगे" [पंडित युधिष्ठिर मीमांसक]

..... त्यारवाद (शास्त्रार्थ में जीवनजी के पराभव के पश्चात्) एमना निवास स्थान मा एमने माटे मान धरावता मुम्बई ना सम्भावित गृहस्थी ए जाई ने धार्मिक चर्चा करता करता मुम्बई मां आर्यसमाजस्थापन करवानी स्वामीजी ने विनंत्ति करी। त्यारे एमणे सर्वने उद्देशी ने स्पष्ट जणावी दीघु के' = "**उसके बाद [शास्त्रार्थ में जीवन जी के पराजय के पश्चात्] इनके निवासस्थान पर इनके प्रति सम्मान रखनेवाले बम्बई के संभ्रान्त गृहस्थों ने जाकर धार्मिक चर्चा करते करते बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की स्वामीजी से प्रार्थना की। इस पर उन्होंने सब को उद्देश करके स्पष्ट बता दिया कि**

स्वामी दयानंद- "भाई, हमारा कोई स्वतन्त्र मत नहीं मैं तो वेद के अधीन हुं और हमारे भारत में पच्चीस कोटि आर्य हैं। कई कई बात में किसी किसी में कुछ कुछ भेद है। सो विचार करने से अपने आप ही छुट जायेगा। मैं संन्यासी हूं और मेरा कर्त्तव्य यही है कि जो आपलोगों का अन्न खाता हूँ इसके बदले जो सत्य समझता हूं उसका निर्भयता से उपदेश करता हूं। मैं कुछ कीर्ति का रागी नहीं हूँ। चाहे कोई मेरी स्तुति करे, वा निंदा करे, मैं अपना कर्त्तव्य समझ के धर्म बोध कराता हूं, कोई चाहे माने वा न माने इसमें मेरी कोई हानि लाभ नहीं है। '

त्यारे एक भाई एकहु के प्रमे जो समाज स्थापन करीए, तो एमां कोई सार्वजनिक नुक- सान छे ? ते नो जबाब स्वामी जीए दीघो के =**(एक भाई ने कहा कि हम जो समाज स्थापित करें तो इसमें सार्वजनिक नुकसान है ? इसका जबाब स्वामी जी ने दिया कि)**

स्वामी दयानंद- "आप यदि समाज से पुरुषार्थ कर परोपकार कर सकते हो, समाज करलो इसमें मेरी कोई मनाई नहीं। परन्तु इसमें यथोचित व्यवस्था न रखोगे तो आगे गडबडाध्याय हो जायगा। मैं तो मात्र जैसा अन्य को उपदेश करता हूं वैसा ही आपको भी करूंगा और **इतना लक्ष्य में रखना कि कोई स्वतन्त्र मेरा मत नहीं हैं। और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हुं। इस से यदि कोई मेरी गलती आगे पाइ जाए युक्तिपूर्वक परीक्षा करके इसी को भी सुधार लेना।** यदि ऐसा कोई न करोगे तो आगे एक मत हो जायेगा, और इसी प्रकार से बाबावाक्यं प्रमाणं करके इस भारत में नाना प्रकार के मत मतान्तर प्रचलित होके भीतर-भीतर दुराग्रह रखके धर्मान्ध होके लड़के नाना प्रकार की सद्विद्या का नाश करके यह भारतवर्ष दुर्दशा को प्राप्त हुआ है इसमें, यह भी एक मत बढ़ेगा। मेरा अभिप्राय तो है कि इस भारतवर्ष में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित है वो भी वे सब वेदों को मानते हैं, इस से वेदशास्त्ररूपी समुद्र में यह सब नदी नाव पुनः मिला देने से धर्म ऐक्यता होगी। और धर्म ऐक्यता में सांसारिक और व्यवहारिक सुधारणा होगी और इससे कला कौशल्यादि सब प्रभीष्ठ सुधार होके मनुष्यमात्र का जीवन सफल होके अन्त में अपना धर्म बल से अर्थकाम और मोक्ष मील सकता है'।

दयानन्द की आशङ्का वास्तविकता में बदल रही है

“लगभग ३०-३५ वर्ष से मैं(युधिष्ठिर मीमांसक) देख रहा हूं कि आर्यससाज में कुछ व्यक्ति दयानन्द के मूल सिद्धान्त, जिसे उन्होंने ऊपर उदधृत अपने कथन में व्यक्त किया है तथा आर्यसमाज के चतुर्थ नियम में **'सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये'** घोषित किया है, को भुलाया जा रहा है। इस के स्थान में स्वाध्यायहीन दयानन्द के मन्तव्यों को यथावत् न जानने वाले **दयानन्द के प्रति भक्ति प्रवण आर्य व्यक्तियों को दयानन्द के नाम पर भ्रान्ति में डालकर नित नये वाद खड़े किये जा रहे हैं।;**[पंडित युधिष्ठिर मीमांसक, दयानंद विशेषांक]

ऋषिदयानंद सरस्वती ने स्वयं कहा है कि मेरा कोई अपना मत नहीं है, कोई स्वतंत्र लक्ष्य नहीं है। मैं कोई सर्वज्ञ भी नहीं हूँ। मेरी भी बात कही गलत दिखे तो उसको ठीक कर लिया जाए, क्योंकि उनको ऐसी आशंका थी कि आगे चलकर के आर्य समाज भी एक पंथ,संप्रदाय बन जाएगा जिनके आदि गुरु दयानंद सरस्वती होंगे। जैसा कि अन्य पौराणिक में बना हुआ है। ऋषि दयानंद सरस्वती बुद्धिमान थे, दूरदृष्टि रखते थे। उनको इस बात का भान था कि जिस प्रकार से ये लोग मेरी अंधभक्ति करते है, संभव है कि आगे जा करके यह एक मेरे नाम से पंथ ही बना दे। जहाँ पर मेरे विरुद्ध सत्य को भी अस्वीकार कर दिया जाएगा। इसीलिए दयानंद सरस्वती बार बार अपने अनुयायीयो को सावधान करते रहते थे। दयानंद सरस्वती मूर्ति पूजा का प्रबल खंडन करते थे। यदि वो ऐसा न करते तो इसमें भी कोई संदेह नहीं कि यही लोग उनकी मूर्ति बना करके पूजते। सत्य कों ग्रहण करना और असत्य को छोड़ना, जो कि आर्य समाज का मूल उद्देश्य था वो कहीं पीछे छुट जाएगा या कहें कि दयानंद के ही पीछे छुप जाएगा। सत्य को ग्रहण करने तथा असत्य को छोड़ने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। यह नियम बदलकर के ‘दयानंद को ग्रहण करने और दयानंद के खिलाफ़ जो भी बाते है उसको छोड़ने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए’ यह बन जाये। पंडित युधिष्ठिर मीमांसक ने अपनी चिंता इसी विषय पर ज़ाहिर की है। दयानंद सरस्वती के प्रति भक्ति इतनी प्रबल हो चुकी है कि उनके विरुद्ध यदि सत्य भी खड़ा हुआ हो तो दयानंद सरस्वती ही प्रमाण हो जाते है। दयानंद सरस्वती के विरुद्ध कुछ भी सत्य दिखता ही नहीं और दिखे भी कैसे अंधभक्ति का पर्दा होता ही ऐसा है। जैसे सैकड़ो गलती होने के बाद भी मायावादी शंकराचार्य में गलती मानने को तैयार नहीं होते उसी प्रकार आर्य समाजी को भी दयानंद सरस्वती के कथनों में कही भी कुछ गलती नहीं दिखती।

वेद के पीछे दयानन्द चलेगा या दयानन्द के पीछे वेद

“आज तक आर्यसमाज की मान्यता रही है कि वेदों के पाठ में स्वर अक्षर मात्रा का भी परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु अब कतिपय व्यक्ति वेद को भी **'दयानन्द का वेद और पौराणिकों का वेद'** के रूप में बाँटने का स्वप्न देखने लगे हैं। एक महानुभाव ने पत्र द्वारा पूछा कि ऋग्वेद में एक पौराणिक देवकामा पाठ के स्थान में देवृकामा दयानन्द सम्मत पाठ है। क्या इस प्रकार के ऋग्वेद में दयानन्द सम्मत और पाठ भी हैं ? मुझे इस पत्र को पढ़ कर बड़ा आश्चर्य हुआ। आज तक आर्यसमाज **'वेद में पाठ परिवर्तन नहीं हुआ'** इसके प्रमाण के लिये परम्परागत वेद को कण्ठस्थ रखने वाले व्यक्तियों के पाठ को ही आधार मानता चला आया है। यही नहीं, बम्बई शास्त्रार्थ में जब पौराणिक विद्वान् ने **न तस्य प्रतिमा अस्ति मन्त्र का 'नतस्य'** = भक्तों के प्रति झुके हुए भगवान् की 'प्रतिमा अस्ति' मूर्ति है, ऐसा अर्थ किया तो आर्यसमाज की ओर से वेदपाठी ब्राह्मणों को बुलाकर उन से पदपाठ और क्रमपाठ पढ़वाकर प्रमाणित किया कि **'नतस्य' एक पद नहीं है 'न तस्य' दो पद हैं।** इस प्रकार आर्यसमाज ने उस शास्त्रार्थ में विजय पाई थी।

ऋषि दयानन्द के ऋग्वेद भाष्य में मैक्समूलर द्वारा प्रकाशित ऋग्वेद और सायण-भाष्य के कारण अनेक स्थानों में पाठ को अशुद्धियां हैं। और प्रायः मैक्समूलरीय सायण-भाष्य के पाठ के अनुसार ही अर्थ भी किया गया है। यथा-

मैक्समूलर पाठ	**वैदिक पाठ**
स्यन्द्रा (१.१८०.9॥५.५२.८)	स्पन्द्रा
स्यन्द्रासो (५.५२.३/५. ८७.३)	स्पन्द्रासो

स्यन्द्रो (६।१२।५)	स्पन्द्रो
मथ्ना (१।१८१।५)	मथ्रा

इन मैक्समूलरीय पाठों में से ऋ० द० के भाष्य में केवल ऋ० १।१८०।१५ के भाष्य में 'स्पन्द्रा' शुद्ध पाठ मिलता है, अन्यत्र स्यन्द्रा, स्यन्द्रो, स्यन्द्रासः और 'मथ्ना' पाठ ही है। मैक्समूलरीय पाठ का प्रभाव वैदिक संशोधन मण्डल से छपे सायणभाष्य (प्र० सं०) के १.१८०.९ में देखा जा सकता है। आगे वहीं के छपे सायण भाष्य में शुद्धपाठ ही छपा है।

'स्यन्द्रा' आदि अपपाठ का कारण है हस्तलेखों में 'य' और 'प' के लेखन की साम्यता। मैक्स- मूलर ने केवल हस्तलेखों के आधार पर संपादन कार्य किया था, वेदपाठी तो कोई उसके पास था नहीं। अतः उसने 'प' को 'य' पढ़ लिया। इसी प्रकार 'मथ्ना' और ' मथ्रा' में थकार के नीचे लगे नकार वा रकार के लेखन में भी किञ्चिन्मात्र ही भेद होता है। मैक्समूलर ने 'मथ्नाति' क्रिया के साम्य से 'मथ्रा' को 'मथ्ना' पढा।

यहां विचारणीय है कि हम वैदिकों के पाठ को वेद का मूल पाठ मानें अथवा मैक्समूलरी पाठ के अनुसार ऋषि दयानन्द के भाष्य में छपे पाठ को 'दयानन्दीय पाठ' मानकर प्रामाणिक समझें। इससे भी भयानक दो उदाहरण ऋ० द० के यजुर्वेद भाष्य से नीचे उपस्थित किये जाते है-

२. यजुर्वेद १२।४७ में एक पद है - **सहस्त्रियम्**। अजमेर के छपे भाष्य में मन्त्रपाठ पदपाठ में सहस्त्रियम् पाठ छपा है। और पदार्थ में (सहस्त्रियम्) 'सहप्राप्तां भार्याम्'। इसी प्रकार भाषापदार्थ में भी छपा है - (सहस्त्रियम्) साथ वर्तमान अपनी स्त्री को। क्या यहां दयानन्द के यजुर्वेद का 'सहस्त्रियम्' पाठ माना जाये ? यजुर्वेदभाष्यभास्कर के सम्पादक ने 'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः' के अनुसार अजमेरीय पाठ का ही अनुकरण किया है।

३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'राजप्रजाधर्म विषय' में यजुर्वेद अ० २० का २५ वां मन्त्र 'ब्रह्म च क्षत्रं च' उद्धृत किया है। इस में 'तं लोकं पुण्यं यगेषम्' पाठ देकर **यज्ञकरणेच्छाविशिष्टम्** अर्थ किया है। यजुर्वेद भाष्य में **प्रज्ञेषं पाठ (जो परम्परागत शुद्ध पाठ है)** मानकर (प्र) (ज्ञेवम्) जानीयाम पदार्थ लिखा है।;[पंडित युधिष्ठिर मीमांसक, दयानंद विशेषांक]

यजुर्वेद २०.२५

(यज्ञेषं) यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं विजानीम:[ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, यजुर्वेद२०.२५]

(प्र) (ज्ञेषम्) जानीयाम्। जानातेर्लेटि सिपि रूपम् [दयानंद भाष्य, यजुर्वेद२०.२५]

मंत्र एक ही है स्वामी दयानंद ने दो अलग जगहों पर भिन्न भिन्न शब्द लिख रखे है।

तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं प्रज्ञानं वा प्राप्ता भवन्तीत्यतः तल्लोकगमनं प्रार्थ्यते।(उवट, यजुर्वेद२०.२५)

पुण्यं पवित्रं लोकं प्रज्ञेषं जानीयाम्(महीधर, यजुर्वेद२०.२५)

(प्रज्ञेषम्) = उत्कृष्ट जानता हूँ।(अच्युतानंद सरस्वती, यजुर्वेद२०.२५)

(प्रज्ञेषम्) जानता हूँ,[जयदेव शर्मा, यजुर्वेद२०.२५]

अत: **प्रज्ञेषं** पाठ ही शुद्ध पाठ है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका **(यज्ञेषं)** पाठ त्रुटी है।

ऋग्वेद - मण्डल » 1; सूक्त » 180; मन्त्र » 9

यहाँ एक ही मन्त्र Rigveda/1/180/9 (vedicscriptures.in) में स्पष्ट रूप से मन्त्र और पद पाठ में '**स्यन्द्रा**' और '**स्पन्द्रा**' का भेद देखा जा सकता है।

(स्पन्द्रा) प्रचलितौ[स्वामी दयानंद]

स्यन्द्रा स्यन्दनशीलौ युवां (आचार्य सायन)

स्वामी दयानंद ने **स्पन्द्रा** शब्द कहा से लिया?

ऋग्वेद - मण्डल » 1; सूक्त » 181; मन्त्र » 5

(मन्था) मन्थानि मथितानि[स्वामी दयानंद]

ते च **"मथ्ना** प्रमथनेनालोडनेन निष्पादितैः [आचार्य सायन]

अन्य भेद पंडित युधिष्ठिर मीमांसक ने दिखाए है, उसकी पाठक लोग स्वयं परीक्षा करे। कुछ भेद यहाँ दिखाए गए है।

यजुर्वेद में कितने मन्त्र

चत्वारिंशदध्यायस्थाः सर्वे मन्त्रा एतावन्तः १९७५ एकोनविंशतिः शतानि पञ्चसप्ततिश्च सन्ति॥ [दयानंद यजुर्वेद भाष्य, आरम्भ]

चालीसों अध्याय के सब मिलके १९७५ (उन्नीस्सौ पचहत्तर) मन्त्र हैं॥

दयानंद सरस्वती ने यजुर्वेद भाष्य आरंभ करते हुए २५ वे अध्याय में ४७ मंत्र माने है। लेकिन जब २५ वे अध्याय में भाष्य करने जाते है, तो ४८ मन्त्र भी लिख देते है।

अग्ने त्वं नोऽ अन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।

वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः॥४७॥

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनम् ईमहे सखिभ्यः ॥

स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो ऽ अघायतः समस्मात् 48 [यजुर्वेद स्वामी दयानंद]

अग्ने त्वं नो ऽ अन्तम ऽ उत त्राता शिवो भव वरूथ्यः ।

वसुर् अग्निर् वसुश्रवा ऽ अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ।

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनम् ईमहे सखिभ्यः ॥४७ [यजुर्वेद चौखम्बा, महीधर, उवट भाष्य, अन्य यजुर्वेद]

स्वामी दयानंद ने '... **नक्षि द्युमत्तम रयिं दाः**' इसको ४७ कहा है फिर **'तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनम् ईमहे सखिभ्यः**' इस मन्त्र में एक और मन्त्र वाक्य जोड़ा है **'स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो ऽ अघायतः समस्मात्**' इन दोनों मन्त्र समूह को ४८ कह दिया है। वास्तव में अन्य प्राचीन यजुर्वेद भाष्य में '...**नूनम् ईमहे सखिभ्यः**'**(४७)** यही अंतिम मंत्र है।

अब प्रश्न ये उठता है की '**स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो ऽ अघायतः समस्मात्**' यह मन्त्र कहा से जोड़ा और क्यों जोड़ा? यदि जोड़ना ही था तो १९७६ मंत्रो की संख्या बताते।

वास्तव में यजुर्वेद दयानंदभाष्य में ४८ वे मन्त्र का जो पहला वाक्य है '**तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनम् ईमहे सखिभ्यः**' यह यजुर्वेद [3.२६] में आता है। यजुर्वेद [3.२६] का दूसरा मन्त्र वाक्य है **'स नो॑ बोधि श्रुधी हव॑मुरुष्या णो॑ऽअघाय॒तः स॑मस्मात्'॥२६॥** इसीलिए एक वाक्य मिलने से स्वामी दयानंद ने तीसरे अध्याय से इस वाक्य['स नो॑ बोधि श्रुधी...] को उठा कर २५ वे अध्याय में ४८ वे मन्त्र के नाम से डाल दिया। पर ऐसा क्यों किया?

"ऋ० द० ने यजुर्वेद भाष्य के प्रारम्भ में २५वें अध्याय में ४७ मन्त्र मानकर (जो शुद्ध है) पूर्ण मन्त्रयोग १६७५ लिखा है। परन्तु भाष्य करते समय ४६ वें मन्त्र के आगे ४७वें मन्त्र की—

प्रग्ने त्वन्नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथपः। वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तम रयिं दाः। तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः।

इन तीन द्विपदाओं के साथ **'स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो श्रधायतः समस्मात्'** द्विपदा और जुड़ गई। इसके जुड़ जाने से चार द्विपदाओं के दो मन्त्र वन कर संख्या ४७ के स्थान में ४८ हो गई।

यहां यह विचारणीय है कि ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद के भाष्य के प्रारम्भ में २५ वें प्रध्याय में ४७ संख्या लिख कर पूर्णयोग १९७५ लिखा है, उसे शुद्ध मानें या भाष्य के अनुसार ४८ मन्त्र मानकर पूर्णयोग १९७६ स्वीकार करें। इस प्रसंग में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है- ४७वें मन्त्र का भाष्य में **शक्वरी छन्द** लिखा है। **शक्वरी छन्द** में ५६ अक्षर होते हैं। यह अक्षर संख्या भाष्य में छपे ४७ मन्त्र की दो द्विपदायों में पूर्ण नहीं होती। **यदि परम्परानुसार ४७ वें मन्त्र में अग्ने त्वन्नोः 'वसुरग्नि' 'तं त्वा शोचिष्ठ'** तीन द्विपदाएं मानी जायं तो ५६ अक्षर पूरे हो जाते हैं। इस से विदित होता है कि जब छन्दोनिर्देश के लिये मन्त्र के अक्षरों की गणना की गई थी तब ४७वें मन्त्र में उपर्युक्त तीन द्विपदाओं का पाठ स्वीकार किया था। चौथी द्विपदा को जोड़कर दो मन्त्र बनाने पर **शक्वरी छन्द** का निर्देश अशुद्ध हो जाता है" [पंडित युधिष्ठिर मीमांसक, दयानंद विशेषांक]

"**दयानन्द के पीछे वेद को नहीं चलाना चाहिये। वेद के पीछे दयानन्द को चलाना चाहिये, अर्थात् ऋ० द० के ग्रन्थों में मन्त्रों के जो पाठ परम्परागत नहीं हैं।** किन्हीं कारणों से भ्रष्ट हो गये हैं, उन्हें दयानन्द–सम्मत या दयानन्द उचित पाठ की कल्पना करना दयानन्द के पीछे वेद को चलाना माना जायेगा। इस अवस्था में दयानन्द और सब ऋषियों मुनियों को 'वेद स्वतः प्रमाण हैं' **मत खण्डित होकर वेद दयानन्द के पराधीन होने से परतः प्रमाण हो जायेगा"** [पंडित युधिष्ठिर मीमांसक, दयानंद विशेषांक]

"इन सब परिस्थितियों पर ध्यान न देकर केवल दयानन्द के नाम पर उनके ग्रन्थ में छपी भूलों को स्वीकार कराने अथवा जो स्वीकार न करे उस के लिये दयानन्द विरोधी का फतवा देने का प्रयत्न करना ऋषि भक्ति प्रवण साधारणजनों में अपनी ऋषि भक्ति का नगारा पीटना अथवा अपने विशिष्ट पाण्डित्य की घोषणा के अतिरिक्त कुछ महत्त्व नहीं रखता। फिर भी ऐसे लोगों और इनके अनुयायियों से आर्यसमाज को यह खतरा अवश्य उत्पन्न हो गया है किआर्यसमाज शीघ्र ही 'दयानन्द मत' के रूप में परिणत हो जायेगा। इस दयानन्द अनभीष्ट स्थिति के बचाने का उत्तरदायित्व आर्यसमाज के विद्वानों का है। यही सोचकर मैंने यह लेख लिखा है **किसी व्यक्ति विशेष का विरोध करने की भावना से नहीं लिखा है।** आर्य समाज के मूर्धन्यविद्वान् इस मूलभूत समस्या पर गम्भीरता से विचार करें। इसी दृष्टि से उनका ध्यान आकृष्ट करने का यह क्षुद्र प्रयत्न किया है।;[पंडित युधिष्ठिर मीमांसक, दयानंद विशेषांक]

पंडित युधिष्ठिर मीमांसक आर्य समाज के प्रमुख विद्वानों में से एक है। यदि आर्य समाज में 10 प्रमुख विद्वानों की सूची बनाई जाये तो बिना युधिष्ठिर मीमांसक के वह सूची पूर्ण नहीं हो सकती है। ऐसे प्रकांड विद्वान् को भी लगता था की यदि मै दयानंद सरस्वती की गलती

दिखाऊंगा तो आर्य समाजी लोग मेरे खिलाफ फतवा निकाल देंगे। यहाँ '**फतवा**' शब्द पर ध्यान देना चाहिए और जब युधिष्ठिर मीमांसक जैसा विद्वान् इस शब्द का प्रयोग करता है तो समझिये की ये बहुत बड़ी बात है। इसका सीधा अर्थ है की आर्य समाज को सत्य अथवा असत्य से कुछ लेना देना नहीं है, व्यक्ति विशेष अर्थात दयानंद की सत्ता इतनी ऊपर हो गई है की उनको ही नबी मान उनमे कुछ दोष दिखाने वालो के खिलाफ फतवा निकालते रहते है और अपने आप को प्रकांड ऋषि भक्त सिद्ध करते है। क्या ऋषि दयानंद सरस्वती इस अंधभक्ति से कभी प्रसन्न होते जो वैदिक धर्म का ही नाश कर रही हो ?

'देवृकामा' या 'देवकामा'

ओं भूर्भुवः स्वः। अघौरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चीः । वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ [संस्कार विधि,विवाहप्रकरणम्, १५७][ऋग्वेद - मण्डल » 10; सूक्त » 85; मन्त्र » 44]

अनुशीलन:- "ऋग्वेद का पाठ 'देवकामा' है । अथर्व० (१४।२।१७,१८) में **'देवृकामा'** और **'देवकामा'** दोनों पाठ हस्तलेखों में उपलब्ध होते हैं । **स्वामी दयानन्द सरस्वती ऋग्वेद के पाठ में भी 'देवकामा' पाठ ही मानते हैं।** इस की पुष्टि संस्कारविधि के प्रथम सं० से होती हैं । प्र० संस्करण पृष्ठ ६१ पं०६ में ऋङ मन्त्र पाठ में 'देवकामा' पाठ छप गया था, परन्तु संशोधन पत्र पृष्ठ कालम २ में 'देवका' का **'देवृका'** शुद्ध पाठ दर्शाया है । प्र० संस्करण पृष्ठ ८४ पं० २३ में पारस्करगृह्य के पाठ में भी प्रकृत मन्त्र में ' **देवृकामा**' पाठ ही मिलता है" [पंडित युधिष्ठिर मीमांसक]

(देवकामा) निजपतिदेवं कामयमाना 'देवृकामा' पाठे तु देवॄन् कामयमाना [स्वामी ब्रह्ममुनि]

स्वामी ब्रह्ममुनि ने **'देवकामा'** पाठ माना है।

(देवकामा) वासनाओ के ऊपर उठने के लिए तू सदा उस देव की कामनावाला हो...[पंडित हरिशरण जी]

"**देवकामा**" स्योना सुखकरा च भव [आचार्य सायन]

वेद मंत्रो में शब्दों का हेर फेर गंभीर विषय है। सायन से प्राचीन किन भाष्यकारो ने देवृकामा पाठ माना है? दयानंद सरस्वती ने **'देवृकामा'** पाठ कहा से लिया? दयानंद सरस्वती के वेद भाष्य में कुछ मंत्रो के शब्द बदले हुये है अर्थात प्राचीन भाष्य के आधार पे नहीं है। आगे इसपर विस्तार से बात करेंगे

दयानंद ने की मिलावट

> **दानेन या ज्ञानेन** [सत्यार्थ प्रकाश, समुल्लास ४]

अनुशीलन:- स्वामी दयानंद ने समुल्लास ४ में मनुस्मृति का एक श्लोक लिखा है-

स्मात्त्रयोऽप्या श्रमिणो दानेनाननेन चान्वहम्। गृहस्थेनेव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही [मनु० 3.७८]

यहाँ **'दानेन'** नहीं **'ज्ञानेन'** पद आया है –

ज्ञानेन वेदार्थव्याख्यानजन्येनान्नेन [मेधातिथि]

वेदार्थव्याख्यानान्नदानाभ्यां [कुल्लुक भट्ट, ज्ञानेन का अर्थ वेद की व्याख्या किया है।]

स्वामी दर्शनानंद, तुलसीराम स्वामी, प्रोफेसर राजाराम, पण्डित हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, पण्डित गंगाप्रसाद, पण्डित आर्य्यमुनि इन सभी आर्य समाजियों ने **'ज्ञानेन'** शब्द ही माना है।

एक सुरेन्द्र कुमार ने **'दानेन'** पद लिया है। यह बस दयानंद भक्ति का परिणाम है, क्योकि इसके पक्ष में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया।

नए शास्त्र वाक्यों की रचना

स्वामी दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश में शास्त्रों के नाम से ऐसे वाक्य की रचना की है जो की उस अमुक शास्त्र में पाए ही नहीं जाते। कही कही तो दो तीन शास्त्रों के कुछ शब्दों को उठाकर एक जगह रख उसका अर्थ कर दिया है। ये अजीबो गरीब विद्या का प्रकाश कैसे किया जाता है आप भी देखिये-

"विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्" [sp5]

ये श्लोक मनु के प्रमाण से समुल्लास ५ में लिखा है। अब आश्चर्य की बात ये है की ये श्लोक मनुस्मृति में कही मिलता ही नहीं है। थोडा ध्यान दिया जाए तो **"विविधानि च रत्नानि**" यह वाक्य मनुस्मृति में १२.६१ में पाया जाता है। लेकिन आगे **"जायते हेमकर्तुषु"** वाक्य लिखा है। स्वामी दयानंद ने जो **"विविक्तेषूपपादयेत्"** लिखा है यह वाक्य १२.६१ में नहीं है। **विविक्तेषूपपादयेत्(**विविक्तेषु+ **उपपादयेत्)** इसमे **"विविक्तेषु"** पद इसी प्रकार के मिलते जुलते प्रसंग में मनुस्मृति ११.६ में पाया जाता है। इसी प्रसंग(ब्राह्मण अथवा वेद का ज्ञान रखने वाले को धन का दान देना) में "**उपपादयेत्"** शब्द ११.७३ में आया है। अर्थात संभव है की स्वामी दयानंद ने यह श्लोक १२.६१+११.६+११.७३ को जोड़कर बना दिया है और इसको मनु के प्रमाण से लिख दिया है। यह श्लोक बनाने की कौन सी चाइनीज तकनीक है?

आर्य समाजियों ने जब देखा की यह श्लोक तो मनुस्मृति में कही पाया नहीं जाता उन्होंने इसको ११.६ प्रक्षिप्त (सुरेन्द्र कुमार) कह दिया क्योकि वहाँ इससे मिलती जुलती बात कही गई है। विद्यानंद जी का कहना है की बहुत से ऐसे श्लोक है जो प्राचीन पुस्तकों में मनुस्मृति के नाम से पाए जाते है लेकिन अभी यह वर्तमान मनुस्मृति में नहीं है। चलो ठीक है यह भी बात मान ली "**विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्"** इस वाक्य को यदि मनुस्मृति से न दिखा सको तो कोई बात नहीं, किसी भी प्राचीन शास्त्र में मनु के नाम से दिखा दो। मेधातिथि के मनुस्मृति में कुछ श्लोको का भेद देखने को आता है, पर स्वामी जी का यह श्लोक तो उसमे भी नहीं है। समाजी कहेंगे की हो सकता है जिस पुस्तक से स्वामी दयानंद ने यह लिखा हो उसमे भिन्न पाठ हो और वो पुस्तक लुप्त हो गई हो। ऐसे तो कोई भी कुछ भी लिख दे और कहे की प्राचीन पाठ में था अब लुप्त हो गया हो।

प्रश्न- स्वामी दयानंद ऐसा क्यों करेंगे

उत्तर- स्वामी जी अनेक शास्त्रों के कुछ वाक्यों से एक शास्त्रीय वाक्य बनाकर उसका अर्थ प्रमाण रूप में करते थे। यह बात आगे और स्पष्ट होगी

मनुष्या ऋषयश्च ये, ततो मनुष्या अजायन्त

स्वामी दयानंद समुल्लास ८ में सृष्टि के आदि में अनेक जीव उत्पन्न हुए इसके पक्ष में प्रमाण देते हुए लिखा है- '**मनुष्या ऋषयश्च ये, ततो मनुष्या अजायन्त यह यजुर्वेद में लिखा है।;** यह वचन यजुर्वेद में कही नहीं है। सुरेन्द्र कुमार ने दयानंद सरस्वती के पाठ को ही बदल दिया है **"साध्या ऋषयश्च ये" ॥ "ततो मनुष्या अजायन्त"** । सुरेन्द्र कुमार ने **'मनुष्या'** पद की जगह **'साध्या'** पद ग्रहण किया है, वो इसीलिए क्योकि यजुर्वेद ३१.९ में **"साध्या ऋषयश्च ये"** पाठ आया है। **"संभव है कि श्रवणश्रान्ति से "मनुष्या:" पाठ लिखा गया हो"**[सुरेन्द्र कुमार] कहने का अर्थ है की दयानंद जी ने बोला **'साध्या'** ही होगा पर लिखने वाले ने **'मनुष्या'** सुन लिया होगा। दयानंद तो ऋषि है उनसे गलती हो नहीं सकती इसीलिए लिखने वाले की गलती है, यह बोलकर दयानंद का पाठ ही बदल दिया। वास्तव में यह गलती है ही नहीं जान बुझकर ऐसा लिखा गया है।

मंसाराम ने कहा है की ऋषि लोग वेदों के नाम से ऐसे वचन भी लिख देते है जो वेदों में शब्दशः नहीं होते इसके पक्ष में महाभारत का एक प्रमाण दिया है। परन्तु मंसाराम जी सामान्य अर्थ को विशिष्ट उद्देश्य में घुसा रहे है। दर्शन आदि में भी श्रुति कहकर सूत्र कहे जाते है पर आवश्यक नहीं की वह उसी प्रकार श्रुति में उपलब्ध हो, परन्तु स्वामी दयानद यजुर्वेद में कह रहे है फिर उनको यह मंत्र यजुर्वेद में दिखाना ही होगा और दुसरे संस्करण से तीन अलग अलग वाक्य तीन भिन्न शास्त्र के सिद्ध हो ही चुके है। अत: यह जानते हुए भी लिपा पोती करना शर्मनाक हरकत है।

स्वामी विद्यानंद ने '**मनुष्या**(मुण्डकोपनिषद् २.१.७) **ऋषयश्च ये**(यजुः० ३१.९), **ततो मनुष्या अजायन्त"** यही पाठ माना है, उसका कारण है की दयानंद जी ने लिखा ही यही है। सुरेन्द्र कुमार ने स्वामी विद्यानंद का खंडन करते हुए लिखा है "स्वामी विद्यानंद जी ने यहां पदों को तोड़कर 'मनुष्याः' को उपनिषद् का तथा 'ऋषयः" को यजुर्वेद का वचन माना है। यह अवांछनीय शैली है। हस्तलेखों में तथा द्वितीय संस्करण में यह एक ही प्रमाण के रूप में लिखित है। पदों को तोड़कर पृथक्- पृथक् मन्त्र में ढूंढना अनर्थकारी सोच है।;[सुरेन्द्र कुमार]

परन्तु स्वामी विद्यानंद की बात दूसरे संस्करण से स्पष्ट रूप से प्रमाणित है-

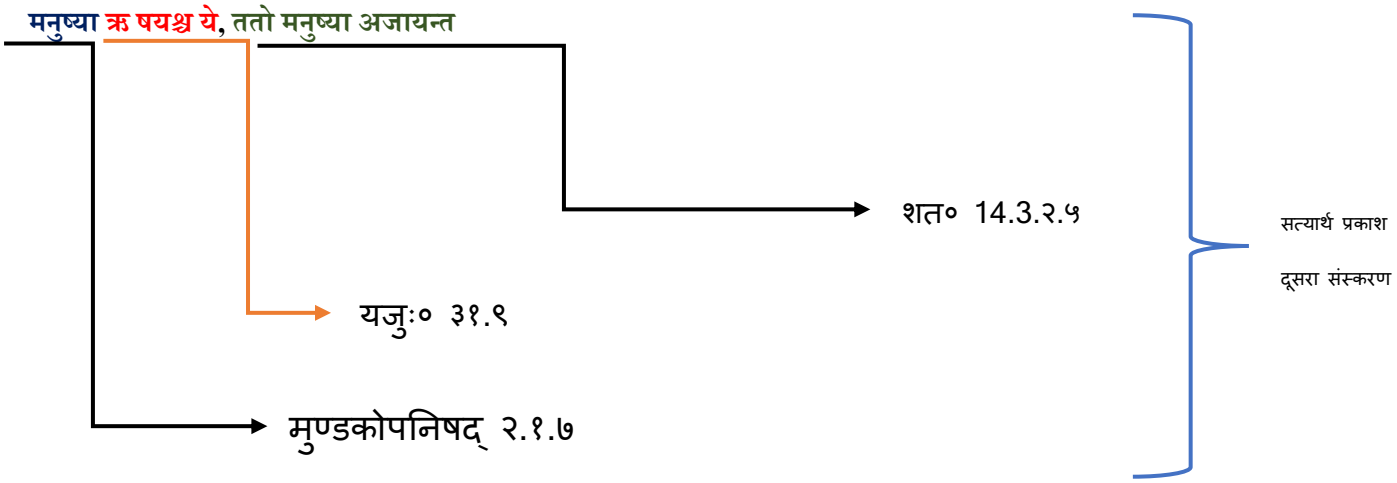

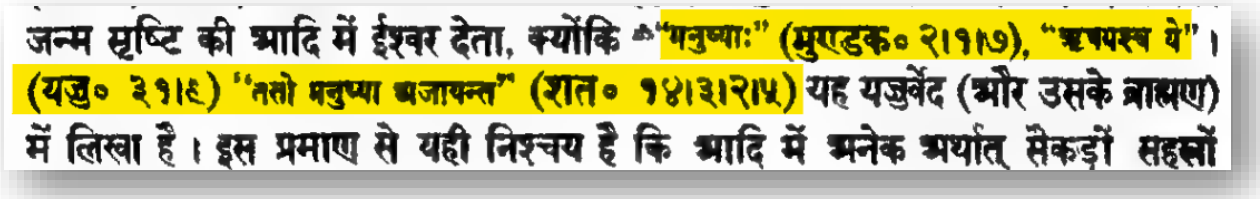
जन्म सृष्टि की आदि में ईश्वर देता, क्योंकि "मनुष्याः" (मुण्डक० २।१।७), "ऋषयश्च ये"। (यजु० ३१।९) "ततो मनुष्या अजायन्त" (शत० १४।३।२।५) यह यजुर्वेद (और उसके ब्राह्मण) में लिखा है। इस प्रमाण से यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात् सैकड़ों सहस्रों

तो इस प्रकार स्वामी दयानंद ने **कही का ईट कही का रोड़ा भानुमती ने कुनवा जोड़ा** किया है। अनेक मनुष्य उत्पन्न हुए यह बात मुण्डक उपनिषद से प्रमाणित हो जाती है "**तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूता: साध्या: मनुष्या: पशवो वयांसि।"** उस [पुरुष] से अनेक प्रकार के देव, मनुष्य, पशु, पक्षी उत्पन्न हुए '**ततो मनुष्या अजायन्त"**[बृह०उप० १.४.३/ शत० 14.3.२.५]- तब बहुत से मनुष्य उत्पन्न हुए; परन्तु यहाँ अनेक मनुष्य ईश्वर से उत्पन्न नहीं हुए है जबकि स्त्री से उत्पन्न हुए है **"ताम समभवत् ततो मनुष्या अजायन्त"**- वह पुरुष उस स्त्री के साथ संगत हुआ तब बहुत से मनुष्य उत्पन्न हुए; अत: मुण्डक उपनिषद से यहाँ ब्राह्मण(बृह०उप०) का प्रकरण भिन्न है। दोनों को जोड़कर एक वाक्य बनाया ही नहीं जा सकता है। अब यजुर्वेद का देखिये –

हे मनुष्यो! (ये) जो (देवाः) विद्वान् (च) और (साध्याः) योगाभ्यास आदि साधन करते हुए (ऋषयः) मन्त्रार्थ जानने वाले ज्ञानी लोग जिस (अग्रतः) सृष्टि से पूर्व (जातम्) प्रसिद्ध हुए (यज्ञम्) सम्यक् पूजने योग्य (पुरुषम्) पूर्ण परमात्मा को (बर्हिषि) मानस ज्ञान यज्ञ में (प्र, औक्षन्)

सींचते अर्थात् धारण करते हैं, वे ही (तेन) उसके उपदेश किये हुए वेद से और (अयजन्त) उसका पूजन करते हैं, (तम्) उसको तुम लोग भी जानो॥९॥[स्वामी दयानंद सरस्वती]

(ये देवाः) = जो विद्वान् **(च)** = और **(साध्याः)** = योगाभ्यासादि साधन करते हुए **(ऋषयः)** = मन्त्रों के अर्थ जाननेवाले ज्ञानी लोग हैं, जिस **(अग्रतः)** = सृष्टि से पूर्व **(जातम्)** = प्रसिद्ध हुए **(यज्ञम्)** = सम्यक् पूजने योग्य **(पुरुषम्)** = पूर्ण परमात्मा को **(बर्हिषि)** = मानस ज्ञान यज्ञ में **(प्र औक्षन्)** = सींचते अर्थात् धारण करते हैं, वे ही **(तेन)** = उसके उपदेश किये हुए वेद से **(तम् अयजन्त)** = उसी का पूजन करते हैं।[अच्युतानन्द सरस्वती]

"योगाभ्यासादि साधन करते हुए मन्त्रों के अर्थ जाननेवाले ज्ञानी लोग हैं, जिससृष्टि से पूर्व प्रसिद्ध हुए" ऋषि लोग सृष्टि के आदि में आये। अनेक स्त्री पुरुष की उत्पत्ति यहाँ से भी सिद्ध नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार समुल्लास 11 में **'पूज्यो देववत्पतिः'** श्लोक मनुस्मृति के नाम से लिख रखा है। सुरेन्द्र कुमार ने इसे ५.१५४ से तुलना की है और खुद ही मनुस्मृति में प्रक्षिप्त कर रखा है। ५.१५४ में **'देववत्पतिः'** तो है पर **'पूज्यो'** शब्द नहीं है। और भी बहुत ब्राह्मण उपनिषद के वचन लिखे है जो खोजने से भी नहीं मिलता सारे मिलावटी ग्रन्थ समाजियों के हाथ लग गए थे क्या?

योगदर्शन और आर्य समाज : सिद्धान्तों का विरोध तथा अर्थ-परिवर्तन

भूमिका

आर्य समाज स्वयं को वेदों तथा ऋषि-प्रणीत दर्शनों का अनुयायी बताता है। परन्तु जब योगदर्शन के अनेक सूत्रों और उन पर लिखे गए व्यासभाष्य के कथन स्वामी दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्तों से मेल नहीं खाते, तब आर्य समाज के विद्वान या तो उन सूत्रों का अर्थ बदलने का प्रयास करते हैं अथवा उन्हें प्रक्षिप्त घोषित कर देते हैं। योगदर्शन के अनेक स्थलों पर यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। भविष्यज्ञान, पूर्वजन्म का ज्ञान, भूत-प्रेत, परशरीर प्रवेश, आकाशगमन तथा अणिमा आदि सिद्धियों के विषय में योगदर्शन जो कहता है, वह आर्य समाज की मान्यताओं से मेल नहीं खाता।

---

1. भविष्य देखने की शक्ति

स्वामी दयानन्द सरस्वती ईश्वर को भी सामान्य अर्थ में त्रिकालदर्शी मानने का निषेध करते हुए लिखते हैं कि परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस वर्तमान रहता है। भूत और भविष्य का भेद जीवों की अपेक्षा से है, ईश्वर की अपेक्षा से नहीं।

किन्तु योगदर्शन का सूत्र कहता है—

"परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्" (योगदर्शन 3.16)

अर्थात् धर्म, लक्षण और अवस्था—इन तीन परिणामों में संयम करने से योगी को अतीत और भविष्य का ज्ञान हो जाता है।

व्यासभाष्य भी इसी अर्थ की पुष्टि करता है और स्पष्ट रूप से कहता है कि परिणामत्रय पर संयम करने से योगी को अतीत और भविष्य का ज्ञान प्राप्त होता है।

किन्तु स्वामी सत्यपति परिव्राजक इस सूत्र का अर्थ सीमित कर देते हैं। उनके अनुसार योगी केवल इतना जान सकता है कि कोई भवन कितना पुराना है या कितने समय तक टिक सकता है। वह यह नहीं जान सकता कि किसी व्यक्ति की मृत्यु कब और कैसे होगी अथवा भविष्य में कौन-सा कर्म किस समय किया जाएगा।

यह व्याख्या सूत्र के प्रत्यक्ष अर्थ से भिन्न है। सूत्र में केवल "अतीतानागतज्ञानम्" कहा गया है, "सीमित अनुमान" या "संभावित ज्ञान" नहीं कहा गया। यदि योगी का ज्ञान केवल अनुमान मात्र है, तो वह किसी सामान्य वैज्ञानिक के अनुमान से भिन्न नहीं रह जाता।

भोजवृत्ति में भी कहा गया है—

"तदा यत्किञ्चिदनुत्पन्नमतिक्रान्तं वा तत्सर्वं योगी जानाति।"

अर्थात् जो कुछ अभी उत्पन्न नहीं हुआ अथवा जो बीत चुका है, उसे योगी जान लेता है।

अतः योगदर्शन का सामान्य अर्थ भविष्यज्ञान ही है, जबकि आर्यसमाजी व्याख्या उसे अनुमान तक सीमित कर देती है।

---

2. पूर्वजन्म का ज्ञान

योगदर्शन का अगला सूत्र है—

"संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्" (योगदर्शन 3.18)

अर्थात् संस्कारों का साक्षात्कार करने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

व्यासभाष्य में न केवल पूर्वजन्म का ज्ञान स्वीकार किया गया है, बल्कि महर्षि जैगीषव्य का उदाहरण भी दिया गया है, जिन्होंने अनेक सृष्टियों के जन्मों का अनुभव किया था।

इसके विपरीत स्वामी दयानन्द सरस्वती सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं कि जीव अल्पज्ञ है और पूर्वजन्म का स्मरण नहीं रख सकता। वे यह भी कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति पूर्व और भविष्य जन्म का वर्तमान जानना चाहे तो भी नहीं जान सकता।

स्वामी सत्यपति भी इसी मत का समर्थन करते हुए योगदर्शन के कथन को विचारणीय बताते हैं।

यहाँ स्पष्ट प्रश्न उठता है कि यदि योगदर्शन शब्दप्रमाण है, तो उसके स्पष्ट कथन को अस्वीकार क्यों किया जा रहा है? और यदि दयानन्द जी का मत ही अंतिम प्रमाण है, तो फिर योगदर्शन का अधिकार कहाँ रह जाता है?

---

3. योगदर्शन में भूत, प्रेत और ब्रह्मराक्षस

योगदर्शन 3.26 के व्यासभाष्य में विभिन्न लोकों, देवगणों, यक्षों, राक्षसों, भूतों, प्रेतों, पिशाचों तथा ब्रह्मराक्षसों का विस्तार से वर्णन मिलता है।

वहाँ कहा गया है कि पाताल, समुद्र और पर्वतों में—

- यक्ष
- राक्षस
- भूत
- प्रेत

- पिशाच
- ब्रह्मराक्षस
- कूष्माण्ड
- विनायक

आदि निवास करते हैं।

इसी प्रकार रौरव, महारौरव, कालसूत्र तथा अन्धतामिस्र जैसे नरकों का भी वर्णन किया गया है, जिनका उल्लेख पुराणों में भी मिलता है।

किन्तु स्वामी सत्यपति इन विवरणों को असंभव मानते हुए व्यासभाष्य को प्रक्षिप्त घोषित कर देते हैं। उनका तर्क है कि इसमें देवताओं की आयु सहस्रों कल्प बताई गई है, जो असंभव है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि किसी भाष्य में आर्यसमाजी सिद्धान्तों के विपरीत कथन आ जाए, तो क्या उसे केवल इसी आधार पर प्रक्षिप्त घोषित कर देना उचित है?

---

4. परशरीर प्रवेश

योगदर्शन का सूत्र है—

“बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः” (योगदर्शन 3.38)

अर्थात् बन्धनकारक संस्कारों को शिथिल करने तथा चित्त के गमनागमन मार्ग का ज्ञान होने से चित्त दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है।

स्वामी सत्यपति इस सिद्धि को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि यदि योगी अपने शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में प्रवेश करेगा तो उसका अपना शरीर मृत हो जाएगा।

किन्तु स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद भाष्य (17.71) में लिखा है कि योगी योगबल से असंख्य प्राणियों के शरीरों में प्रवेश कर सकता है तथा उनके नेत्रों द्वारा देख सकता है।

यहाँ आर्यसमाज के भीतर ही मतभेद दिखाई देता है। एक ओर दयानन्द का भाष्य परशरीर प्रवेश को स्वीकार करता है, दूसरी ओर स्वामी सत्यपति उसे असंभव बताते हैं।

---

5. योगी का आकाशगमन

योगदर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है—

“कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्” (योगदर्शन 3.42)

अर्थात् शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने तथा रूई आदि हल्के पदार्थों में समापत्ति प्राप्त करने से योगी आकाश में गमन करता है।

व्यासभाष्य में स्पष्ट लिखा है कि योगी पहले जल पर चलता है, फिर मकड़ी के जाले के तन्तुओं पर विचरण करता है और अन्ततः आकाश में गमन करता है।

भोजवृत्ति भी पंचभौतिक शरीर के आकाशगमन की ही बात करती है।

किन्तु स्वामी दयानन्द अणिमा आदि सिद्धियों को शरीर की नहीं, चित्त की सिद्धियाँ बताते हैं। स्वामी सत्यपति भी इन्हें परीक्षा की कोटि में रखते हैं।

यदि सूत्र और भाष्य दोनों शरीर के आकाशगमन की बात करते हैं, तो चित्तगत व्याख्या मूल ग्रन्थ के प्रत्यक्ष अर्थ से भिन्न प्रतीत होती है।

---

6. अणिमा आदि सिद्धियाँ

योगदर्शन (3.45) में अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व और यत्रकामावसायित्व जैसी सिद्धियों का वर्णन है।

व्यासभाष्य के अनुसार—

- योगी अणु के समान सूक्ष्म हो सकता है।
- विशाल रूप धारण कर सकता है।
- चन्द्रमा को अंगुली से स्पर्श कर सकता है।
- पंचमहाभूतों पर अधिकार प्राप्त कर सकता है।
- पृथ्वी, जल, अग्नि आदि उसके कार्य में बाधा नहीं डालते।

ये वर्णन स्पष्ट रूप से शरीरगत शक्तियों के रूप में दिए गए हैं।

किन्तु आर्यसमाजी व्याख्या इन्हें मानसिक या बौद्धिक क्षमताओं के रूप में प्रस्तुत करती है। उदाहरणतः अणिमा का अर्थ सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान और महिमा का अर्थ विशाल विषयों का ज्ञान बताया जाता है।

यह व्याख्या व्यासभाष्य के प्रत्यक्ष अर्थ से मेल नहीं खाती।

निष्कर्ष

योगदर्शन के अनेक सूत्रों और व्यासभाष्य में भविष्यज्ञान, पूर्वजन्म का ज्ञान, भूत-प्रेत, परशरीर प्रवेश, आकाशगमन तथा अणिमा आदि सिद्धियों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। किन्तु आर्यसमाज के प्रमुख विद्वान, विशेषकर स्वामी सत्यपति, इन कथनों को या तो सीमित अर्थ में ग्रहण करते हैं, या उन्हें असंभव कहकर प्रक्षिप्त घोषित कर देते हैं।

इससे यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि यदि ऋषि-वचन और दर्शन-ग्रन्थ प्रमाण हैं, तो उनके स्पष्ट कथनों का अर्थ परिवर्तन क्यों किया जाता है? और यदि किसी सिद्धान्त की कसौटी अन्ततः स्वामी दयानन्द के मत ही हैं, तो फिर योगदर्शन अथवा अन्य ऋषि-ग्रन्थों की स्वतंत्र प्रमाणिकता किस सीमा तक स्वीकार की जाती है?

यही इस पूरे विवाद का मूल प्रश्न है।

आयुर्वेद

इतिहासकारों के मुताबिक प्राचीन काल में वैदिक लोग देवता और भगवान से बीमारियों के ठीक करने के लिए प्रार्थना करते थे। ये लोग बीमारी को ठीक करने के लिए जादुई धार्मिक साधनों का उपयोग करते थे। मानव शरीर में होने वाली बीमारियों के लिए दैवी कारणों को वैदिक लोग जिम्मेदार ठहराते थे। मूल रूप से कोई वैज्ञानिक परंपरा उपचार करने की नहीं थी। उसके बाद आयुर्वेद आदि का उद्भव हुआ।

बीमारियों के उपचार करने का आयुर्वेद एक वैज्ञानिक और व्यवहारिक तरीका था। इसमे जादू टोना आदि का प्रयोग नगण्य था। [source]

आयुर्वेद की बहुत सी उपचार विधि आज भी प्रयोग की जाती है, कुछ जगहों पर ये अत्यंत लाभकारी है। परन्तु आयुर्वेद में बहुत सी बाते ऐसी लिखी है जो साध्य है, और इसमे अवैज्ञानिक हास्यास्पद पाखंडपूर्ण उपचार भी शामिल है। आयुर्वेद से ऐसे ही उदाहरणों को यहाँ सबके लिए प्रस्तुत किया जा रहा है। हमारा लक्ष्य पाठक को ये बात समझाना है, की अर्युर्वेद में लिखी हर बात का अँधा समर्थन नहीं किया जा सकता है।

आयुर्वेद में दो प्रकार के उपचार विधि है. १. वृक्ष वनस्पति से, २. पशु पक्षी आदि के मांस से

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च । स षट्सु रसेष्वायत्तः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः, द्रव्याणि पुनरोषधयः । तास्तु द्विविधाः-स्थावरा जङ्गमाश्च ॥ २८ ॥ तासां स्थावराश्चतुर्विधाः-वनस्पतयो, वृक्षाः, वीरुधः, औषधय इति । तासु अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः, प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः, फलपाकनिष्ठा ओषधय इति ॥ २९ ॥ [सुश्रुतसंहिता सूत्रथान १/२८-२९]

अर्थ- आहार प्राणियों का तथा इनके बल, वर्ण और ओज का मूल है। यह आहार छ रसों के अधीन है। रस द्रव्य के आधीन है, और औषधियाँ ही द्रव्य हैं । औषधियाँ दो प्रकार की हैं, यथा-स्थावर और जंगम ॥ २८ ॥

इनमें स्थावर औषधियाँ चार प्रकार की हैं-वनस्पति,वृक्ष, वीरुध और औषधि । इनमें से जिनमें पुष्प आये बिना फल आता है, वे वनस्पति कहाती हैं । जिनमें पुष्प और फल दोनों होते हैं, उनको वृक्ष कहते हैं । जो फैलनेवाली एवं गुल्म रूप (थम्बला रूप) होती हैं, वे वीरुध (बेल) कहाती हैं। जो फल के पकने तक ही अस्तित्व रखती हैं वे औषधि हैं।२९।

जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः - जरायुजाण्डजस्वेदजो- द्भिज्जाः। तत्र पशुमनुष्यव्यालादयो जरायुजाः, खगसर्प-सरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः, कृमिकीटपिपीलिकाप्रभृतयः स्वेदजाः इन्द्रगोपमण्डूकप्रभृतय उद्भिज्जाः ॥ ३० ॥[सुश्रुतसंहिता सूत्रथान १/३०]

अर्थ- जंगम औषधि भी चार प्रकार की हैं। यथा— जरायुज, अण्डज, स्वेदज और, उद्भिज । इन चारों में- पशु, मनुष्य, व्याल (हिंसक पशु) आदि जरायुज हैं। पक्षि, सर्प, अजगर आदि अण्डज हैं। कृमि, कीड़ा चिऊँटी आदि स्वेदज हैं । वीरबहूटी, मेंढक आदि उद्भिज्ज २ ॥ ३० ॥

आयुर्वेद में जन्म से वर्ण

ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य कुल उत्पन्न का उपनयन करा के पढ़ाए ।कई आचार्यों का मत है की उत्तम गुण वाले शुद्र वा अगर आयुर्वेद पठित कुल का हो तो उपनयन करा के पढ़ाए परंतु शुद्र को मंत्र संहिता वर्जित है।

ब्राह्मणक्षत्रियवश्यानामन्यतममन्वयवयःशीलशौर्यशौ- चाचार विनयशक्तिबल-मेधाधृतिस्मृतिमतिप्रतिपत्ति युक्तं त-नुजिह्वौष्ठदन्ताप्रमृजुवक्राक्षिनासं प्रसन्नचित्तवाक्चेष्ट क्लेश सहं च भिषक शिष्यमुपनयेत्; अतो विपरीतगुणं नोपनयेत् ॥३॥[सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान २/३]

जिस प्रकार के शिष्य का उपनयन करना चाहिये वह कहते हैं-

अर्थ- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में से किसी एक जाति के, शुद्ध वंश में अथवा आयुर्वेद पढ़नेवाले कुल में उत्पन्न बालक या तरुण अवस्थावाले, शील-शूरता पवित्रता कुल तथा देश के व्यवहार को जाननेवाले, नम्रता, उत्साह शक्ति, बल, मेधा, स्मृति (स्मरण), मति, प्रतिपत्ति (उत्तमसूझ युक्त), पतली जिह्वा, पतले ओठ, पतले दाँतों के अग्रभागवाले, सरल मुख- नासिका-आँखोंवाले, प्रसन्नचित्त, मधुरवाणी, सुन्दर चेष्टा- वाले और कष्ट को सहन करनेवाले शिष्य का वैद्य उपनयन करे। इन उपरोक्त गुणों से विपरीत गुणवाले शिष्य का उप- नयन नहीं करना चाहिये। (अकुलीन को पढ़ाने का निषेध है। यथा-- **अकुलीनं त्यजेत् शिष्यम्। वियोनिं ग्लेच्छजाति च**)

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपयनं कर्तुमर्हति राजन्यो द्वयस्य, वैश्यो वैश्यस्यैवेति। (शूद्रमपि कुलगुणसंपन्नं मन्त्र वर्जमुपनीत मध्यापयेदित्ये के) ॥५॥[सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान ५]

अर्थ- ब्राह्मण तीनों वर्गों का उपनयन कर सकता है, क्षत्रिय दो वर्णों का (अपना और वैश्य का), वैश्य वैश्य का ही उप- नयन कर सकता है। कई आचार्यों का मत है कि यदि शूद्र आयुर्वेद पाठ कुल में उत्पन्न हो, तथा-शौच शील आदि गुणों से युक्त हो तो, मन्त्र (ओं भूः स्वाहा) को छोड़कर इसको उपनयन देकर आयुर्वेद पढ़ाना चाहिये। (चरक) में ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य के लिये आयुर्वेद पढ़ने का विधान करके- फिर 'सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः'यह कह दिया है॥ ५ ॥

मुहूर्त देखकर उपचार

ततः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्त नक्षत्रेषु दध्यक्षतान्न- पानरत्नैरग्नि विप्रान् भिषजश्चार्चयित्वा कृतबलिमङ्गल- स्वस्तिवाचनं लघु भुक्तवन्तं प्राङ्मुखमातुरमुपवेश्य, यंत्र- यित्वा, प्राङ्मुखो वैद्यो मर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिधमनीः परिहरन्, अनुलोमं शस्त्र' निदध्यादापूयदर्शनात्, सकृ- देवापहरेच्छस्त्र माशु च, महत्स्वपि च पाकेषु द्वचंगुला- न्तरं त्र्यङ्गुलान्तरं वा शस्त्र पदमुक्तम् ॥७॥ [सुश्रुतसंहिता सुत्रस्थान अध्याय ४/६ एवं ५/७]

अर्थ- इसके पश्चात् श्रेष्ठ तिथि, करण, मुहूर्त्त, नक्षत्र में दधि, अक्षत, खान-पान, रत्नों से अग्नि, ब्राह्मणों और वैद्यों की पूजा करके, बलि , मंगल (गीतादि), स्वस्ति- वाचन (आशीर्वाद. उच्चारण) करके, रोगी को थोड़ासा अन्न खिलाकर, रोगी का मुख पूर्व दिशा में रखते हुए बिठाये। रोगी को भली प्रकार बाँध दे जिससे हिले नहीं। फिर वैद्य पश्चिम की ओर मुख करके — सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि और धमनी को बचाकर लोगों के अनुकूल यथायोग्य शस्त्र को पूय (पीब) के निकलने तक गहरा चलाये। शस्त्र को एक बार ही और शीघ्रता से चलाना चाहिये। बहुत बड़े पाक में भी दो अंगुल या तीन अंगुल तक परिमित लम्बा शस्त्र का घाव करना चाहिये। घाव की गम्भीरता व्रण की अपेक्षा से है।

काले सांप की केचुली से उपचार

बच्चा अगर गर्भ के योनि में रुक जाए तो माता को काले साप की केचुली का धुआं सुंघाए।

गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्यनिर्मोकेण पिण्डी- तकेन वा, बध्नीयाद्धिरण्यपुष्पीमूलं हस्तपादयोः, धार- येत् सुवर्चला विशल्यां वा ॥११॥

अर्थ- गर्भ के योनि में रुक जाने पर (बाहर न आने पर वेदनायें बन्द हो जाने पर) काले सांप की केंचुली, अथवा मैनफल से योनि में धूरन करे। कलिहारी की जड़ को हाथ पैर में बाँधे।। हुलहुल या विशल्या (कलिहारी) को धारण करे।

गर्भधारण के अयोग्य स्त्री पुरुष

तन्त्रात्यशिता क्षुधिता पिपासिता भीता विमनाः शोकार्ता क्रुद्धाऽन्य च पुमासमिच्छन्ती मैथुने चातिकामा वा नारी न गर्भं धत्ते । विगुणां वा प्रजा जनयति। ..... पुरुषेऽप्येत एव दोषा।[चरकसंहिता शरीरस्थान अध्याय ८]

अर्थ- गर्भाधान के अयोग्य स्त्री- पुरुष - बहुत भोजन करने पर,प्यास लगी होने पर,अन्य वस्तु में मन लगे होने पर,भूखे होने पर, डरी होने पर, मन प्रसन्न न होने पर या शोकयुक्त, क्रुद्ध, अन्य पुरुष को चाहने वाली, अधिक सम्भोग को चाहने वाली स्त्री गर्भ धारण नही करती। यदि भाग्य से गर्भ रह भी जाये तो गुणरहित संतान उत्पन्न होती है। इसी प्रकार के पुरुष भी गर्भाधान क्रिया में अयोग्य होते हैं।

बहुत भोजन करने पर, प्यास लगी होने पर, भूखे होने पर, क्रोध में होने पर, अधिक संभोग को चाहने वाली स्त्री,अन्य पुरुष को चाहने वाली स्त्री, अन्य वस्तु पर मन लगे होने पर गर्भ धारण नही करती है। यह पूरी फर्जी बात लिखी है, इसका कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं है।

मनचाहा संतान पाने की निंजा टेक्निक

स्नानात्प्रभृति युग्मेष्वहःसु संवसेतां पुत्रकामौ अयुग्मेषु दुहितृकामौ ॥ ६ ॥ [चरकसंहिता शरीरस्थान अध्याय ८ श्लोक ६]

अर्थ- स्नान करने के उपरान्त पुत्र की कामना से युग्म (दूसरे, चौथ, छठे आदि) दिनो मे और कन्या की कामना से अयुग्म (पहले, तीसरे, पाचवे सातवें आदि) दिनों में मैथुन करे ॥ ६ ॥

ऐसे यदि लिंग निर्धारण होती फिर क्या ही बात थी। यह तो ईश्वर नियम को ही चुनौती दी जा रही है।

या तु स्त्री श्यामं लोहिताक्षं व्यूढोरस्कं महाबाहु च पुत्रमाशासीत, या वा कृष्णं कृष्णमृदुदीर्घकेशं शुक्लार्क्ष शुक्लदन्तं तेजस्विनमात्मवन्तम् एष एवानयोरपि होमविधिः, किन्तु परिबर्हवज्यं स्यात्, पुत्रवर्णानुरूपस्तु यथाशीः परिबर्होऽन्यकार्यः स्यात् [चरकसंहिता शरीरस्थान अध्याय ८,19]

अर्थ- जो स्त्री श्यामवर्ण के, लाल आँखोंवाले, विस्तृत एवं उन्नत छातीवाले महाबाहु (लम्बी बाहुबाले) पुत्र को चाहती है अथवा जो कृष्णवर्ण के, काले मृदु और लम्बे बालोंवाले, श्वेत आँखवाले, श्वेत दाँतवाले, तेजस्वी आत्मवान् पुत्र को चाहती हैं, इन दोनों के लिये भी परिबर्ह को छोड़कर शेष होम की विधि पूर्वोक्त ही है। अर्थात् होम तो पूर्ववत् ही होगा, परन्तु. स्त्री के अभिलषित पुत्र के वर्ण के अनुसार परिबर्ह (आसन, बिछौना, फूल, भजन वस्त्र, गृह आदि) बनाना होगा। यदि श्याम पुत्र की इच्छा है तो परिबर्ह (आसन आदि) श्याम वर्ण के होंगे, यदि कृष्ण पुत्र की इच्छा है तो परिबर्ह कृष्ण वर्ण का होना चाहिये। अर्थात् जैसे गौर पुत्रोत्पत्ति के लिये श्वेत वर्ण के आहार वस्त्र और अलङ्कार आदि का विधान है वैसे ही श्याम वा कृष्ण वर्ण के पुत्र की उत्पत्ति के लिये उसी २ वर्णवाले आहार आदि का विधान करना होगा ॥१९॥

"शूद्रा तु नमस्कारमेव कुर्याद्देवाग्निद्विजगुरुतपस्वि- - सिद्धभ्यः ॥२०॥[चरकसंहिता शरीरस्थान अध्याय ८]

अर्थ- शूद्र स्त्री तो केवल मात्र देवता अनि द्विज (ब्राह्मण), गुरु तपस्वी तथा सिद्धों को नमस्कार मात्र ही करे। नमस्कार मात्र से ही उसे अभीष्ट वर्णवाले{रंगवाले} पुत्र की प्राप्ति होगी ॥२०॥

स्पष्ट है कि चरक को पुत्र कैसे पैदा होते हैं? उसका रंग, उसकी लम्बाई, उसकी आँखों का रंग, उसके बालों का रंग, ये सब कैसे निर्धारण होता है? पता नहीं था। बिस्तर पर सोने से पुत्र का रंग बदल जा रहा है और शुद्र को कहा है, की वो केवल द्विज को नमस्कार करके ही इच्छित संतान प्राप्त कर सकती है।

या या यथाविधं पुत्रमाशासीत तस्यास्तस्यास्तां पुत्राशिषमनुनिशम्य तांस्तान् जनपदान् मनसाऽनुपरिका- मयेत्; ताननुपरिक्रम्य या या येषां जनपदानां मनुष्या- णामनुरूपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां तेषां जनपदाना- माहारविहारोपचारपरिच्छदाननुविधत्स्वेति वाच्या स्यातू ; इत्येतत्सर्वं पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातं भवति ॥ २१॥[चरकसंहिता शरीरस्थान अध्याय ८ श्लोक ९]

और जो जो स्त्री जैसे जैसे पुत्र को चाहती हो उस उस स्त्री की उस पुत्रेच्छा को सुनकर उनर देशों को मन में सोचने के लिये कहे (वहाँ के जैसे पुरुष होते हैं) जो जो स्त्री जिन जिन देशों के मनुष्यों के अनुरूप पुत्र को चाहती हो उसे उनका मन में चिन्तन करते हुए उन २ देशों के आहार विहार व्यवहार तथा वस्त्रपरिधान के अनुसार ही कार्य करना चाहिये - ऐसा उस स्त्री को उपदेश करे। अभिप्राय यह है कि जैसे पुत्र को स्त्री चाहे वैसा ही मन में चिन्तन करे और उन २ देशों के आहार विहार आदि का सेवन करे। पुत्र की उत्पत्ति में मन का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। यह पुत्र की कामनाओं की सिद्धि करनेवाले 1 कर्म की व्यवस्था हो गयी है ॥२१॥

प्रमेह रोग

इस रोग में मूत्र के साथ धातु या शक्कर गिरती है. इस के रोगी को दिए जाने वाले आहार का निर्देश करते हुए चरक संहिता में कहा गया है:

ये विष्किरा से प्रतुदा विहंगास्तेषां रसैर्जंगलजैर्मनौज्ञैः, यवौदनं रूक्षमथापि वाट्यन्मद्यात् ससक्तूनपि चाप्यपूपान्.- [चरक संहिता, चिकित्सा स्थानम् 6 / 19]

अर्थ- प्रमेह से पीड़ित रोगियों को विष्किर (तीतर की जाति का एक पक्षी) और प्रतुद (चोंच मारने वाले बाज, तोता, कौआ आदि) पक्षियों का मांसरस तथा जंगली पशु के मांस रस (शोरबा) के साथ यव का भात अथवा सूखा वाट्य, सत्तू और अपूप का आहार करना चाहिए.

यक्ष्मा रोग (क्षयरोग)

इस रोग से पीड़ित व्यक्ति को तीतर, मुर्गा आदि पक्षियों का घी में पकाया गया मांस खाने को देने का चरक ने विधान किया है :

लवणाम्लकटूष्णांश्च रसान्, स्नेहोपबृंहितान्.लवातित्तिरिदक्षाणां वर्तकानाञ्च कल्पयेत्. [चरकसंहिता चिकित्सा स्थानम् 8/66.]

अर्थ- लवा, तीतर, मुर्गा और बटेर के मांस को घृत में पका कर लवण, अम्ल, कटुरस से युक्त कर उन का गरमगरम रस यक्ष्मा के रोगियों को पीने को दें. अर्थात् लवा आदि पक्षियों के मांस को घी में पकाने के बाद सैंधव लवण, नीबू का रस, मिर्च मिला कर गरम मांसरस पीने के लिए देना चाहिए.

सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम्.दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजं रसं पिबेत्.तेन षड् विनिवर्तन्ते विकाराः पीनसादयः [चरकसंहिता, चिकिसा स्थानम् 8/67-68.]

अर्थ- पीपर, जौ, कुत्थी, सौंठ, खट्टे अनारदाने का रस, आंवला- इन द्रव्यों के साथ प्रचुर मात्रा में घृत द्वारा साधित बकरे का मांसरस (शोरबा) पीना चाहिए. इस मांसरस के सेवन से पीनस आदि यक्ष्मा के 6 विकार शांत होते हैं।

चरक ने विभिन्न प्रकार के जानवर लोमड़ी, गीदड़, भालू, सांप,गैंडा, सिंह आदि के मांस खाने का वर्णन किया है। उसने यह भी कहा है कि हो सकता है कि रोगी यह मांस खाने से घृणा करें या ना खाएं तो नाम बदलकर के कहे की यह मोर का मांस है या मछली का मांस है। उसके बाद रोगी को खिला de उसको खिला दे।

शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित्., दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषत:. शोषिणे बार्हिणं दद्याद्बर्हिशब्देन चापरान् . गृध्रानुलूकांश्चाषांश्च विधिवत् सूपकल्पितान् काकांस्तित्तिरिशब्देन वर्मिशब्देन चोरगान् भृष्टान् मत्स्यान्त्रशब्देन दद्याद् गण्डूपदानपि.लोपाकान् स्थूलनकुलान् बिडालांश्चोपकल्पितान् शृगालशावांश्च भिषक् शशशब्देन दापयेत्. सिंहानृक्षांस्तरक्षूंश्च व्याघ्रानेवंविधांस्तथा, मांसादान् मृगशब्देन दद्यान्मांसाभिवृद्धये. गजखड्गितुरंगाणां वेशवारीकृतं भिषक् दद्यान्महिषशब्देन मांसं मांसाभिवृद्धये. मांसेनोपचितांगानां मांसं मांसकरं परम्, तीक्ष्णोष्णलाघवाच्छस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम् [चरक संहिता, चिकित्सास्थानम् 8 / 148-154]

अर्थ- यक्ष्मा रोग से पीड़ित को मोर का मांस खाने को देना चाहिए. इस के अलावा कच्चा मांस खाने वाले गिद्ध, उल्लू और चाष (नीलकंठ) के मांस को विधिपूर्वक बना कर **'यह मोर का मांस है'** ऐसा कह कर मरीज को देना चाहिए. कौए के मांस को तीतर का मांस बता कर, सांप के मांस को वर्मी मछली बतला कर, गंडूपद (केंचुआ) के मांस को मछली की भुनी हुई आंत' बता कर तथा इसी तरह लोमड़ी, बड़े नेवले, बिलार, गीदड़ के मांस को खरहे का मांस बता कर वैद्य खाने को दिलाए। सिंह, भालू, तरक्षु और व्याघ्र का मांस और इन के अलावा मांस खाने वाले दूसरे पशुओं के भी मांस 'यह मृग का मांस है' ऐसा कह कर, रोगी के मांस की वृद्धि के लिए, उसे देना चाहिए. इसी तरह हाथी, गैंडा, घोड़ा-इन के मांस को पका कर, कूट कर पीठी के समान बना कर "यह भैंसे का मांस है' यह कह कर उसे खाने को दे. जिन पशुओं व पक्षियों का मांस मांसाहार के कारण पुष्ट है, उन का मांस तीक्ष्ण, उष्ण, लघु होने के कारण यक्ष्मा के रोगियों के लिए उत्तम होता है।

जो मांस न खाना चाहे उसे गुप्त रीती से मांस खिलाओ-

मांसानि यान्यनभ्यासादनिष्टानि प्रयोजयेत् । तेषूपधा सुखं भोक्तुं तथा शक्यानि तानि हि ॥। १५५।। जानञ्जुगुप्सन्नैवाद्याज्जग्धं वा पुनरुल्लिखेत् । तस्माच्छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत् ॥ १५६। ।[चरक संहिता, चिकित्सास्थानम् 8

अर्थ- जो मांस कभी खाये नहीं और अतएव यदि रोगी को प्रिय न हों तो उन्हें सुख से खिलाने के लिये गुप्त प्रयोग कराना पड़ता है । क्योंकि उनका सेवन उसी प्रकार हो सकता है । यदि रोगी जानता हो तो घृणावश या तो खायेगा ही नहीं या खाने के बाद उसे कै हो जायगी । अतः गुप्तरूप से सिद्ध किये मांस देने चाहिये ॥

यक्ष्मा के लिए गाय के मांस खाने का विधान

बर्हितित्तिरिदक्षाणां हंसानां शूकरोष्ट्रयो: खरगोमहिषाणां च मांसं मांसकरं परम्. [चरकसंहिता चिकित्सा स्थानानम् 8/158.]

अर्थात मोर, तीतर, मुरगा, हंस, सूअर, ऊंट, गधा, गाय और भैंस का मांस, के शरीर का मांस बढाने के लिए यक्ष्मा रोगी के लिए उत्तम है।

गव्यं केवलवातेषु पीनसे विषमज्वरे, शुष्ककासश्रमात्यग्निमांसक्षयहितं च तत्. – [चरक संहिता सूत्र स्थानम् 27/79-80]

अर्थ- अर्थात गोमांस वातजन्य रोगों, पीनस रोग, विषम ज्वर, सूखी खांसी, थकान, भस्मक रोग और मांसक्षयजन्य रोगों में हितकारी होता है.

यही है आयुर्वेद की उत्तम उपचार विधि और इसी विधि को लेकर के समाजी लोग लड़ते रहते हैं। अपने अंदर झांक के नहीं देखते हैं कि क्या क्या लिखा हुआ है। यही है वेदों[उपवेद] का विज्ञान?

ध्यान देने वाली बात ये है की लोमड़ी, गीदड़, भालू, सांप,गैंडा, सिंह आदि का मांस जब रोगी नहीं खाए तो चरक ने कहा की इसका नाम बदलकर मृग, मछली आदि का नाम कह के खिला दो। परन्तु गाय के मांस खाने में ऐसा कुछ नहीं लिखा। ऐसा प्रतीत होता है उस काल में लोग गौ मांस खाने को घृणा की दृष्टि से नहीं देखते होंगे। संभव है की यज्ञ में गौ आदि के बलि से ऐसा संभव हुआ हो।

मांस के साथ मद्य का भी इस्तेमाल करना चाहिए. चरक का कहना है :

मांसमेवाश्नतः शोषे माध्वीकं पिबतोऽपि च,नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति .[चरक संहिता चिकित्सा स्थानम् 8 / 163]

अर्थ- मांस का आहार करते हुए (महुए के फूलों अथवा अंगूरों की बनी) माध्वीक नामक मद्य का सेवन करते हुए जो नियत (जितेंद्रिय) और उदार मन वाला होता है, उस व्यक्ति के शरीर में यक्ष्मारोग बहुत दिनों तक नहीं रहता, अर्थात शीघ्र छूट जाता हैं.

इतना ही नहीं, चरक ने सब प्रकार के मद्यों को पीने की छूट दी है. उस ने कहा है कि जो मद्य जिसे उचित हो, वही पी ले.

प्रसन्नां वारुणीं सीधमरिष्टानासवान्मधु, यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन्. [चरकसंहिता, चिकित्सास्थानम्, 8 / 165]

अर्थ- उपर्युक्त मांसों का भक्षण करते हुए प्रसन्ना, वारुणी, सीधु, अरिष्ट, आसव और मधु-इन में से जो मद्य उचित हो, मनुष्य उसी का अनुपान करे.

उन्माद रोग

उन्माद रोगी को भी भरपेट मांस खिलाने का चरकसंहिता में विधान है:

घृतमांसवितृप्तं वा निवाते स्थापयेत् सुखम् .त्यक्त्वा मतिस्मृतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रमुच्यते. [चरक संहिता, चिकित्सा स्थानम्, 9/78]

अर्थ- उन्माद के रोगी को पुराना घृत और मांस भरपेट खिला कर तेज हवा से रहित घर में सुखपूर्वक सुलाना चाहिए. ऐसा करने से बुद्धि और स्मरणशक्ति की विकृति नष्ट हो कर उसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है. ज्ञान होने से उन्माद रोग से उसे मुक्ति मिल जाती है।

उदर रोग

पेट के रोगों में जंगली पशुओं व पक्षियों के साथ 4-5 तरह की मद्य रोगी को पिलाने का विधान करते हुए चरक कहते हैं:

रक्तशालीन् यवान्मुद्गाञ् जांगलांश्च मृगद्विजान्. पयोमूत्रासवारिष्टन्मधुसीधुं तथा सुराम्. [चरक संहिता, चिकित्सा स्थानम् 13/97-98]

अर्थ- उदर रोग में सेवनीय आहार द्रव्यः रोगी को रक्तशाली धान, यव, मूंग, जंगली मृग और पक्षी का मांस, दूध, मूत्र, आसव, अरिष्ट, मधु, सीधु और सुरा देनी चाहिए.

रक्त अर्श

खूनी बवासीर को नष्ट करने के लिए जंगली मृग और पक्षियों के मांस का रस देना चाहिए.

धन्वविहंगमृगाणां रसो निरम्लः कदम्लो वा [चरक संहिता, चिकित्सास्थानम् 14/194]

अर्थ- जंगली मृग और पक्षियों के मांसरस में खट्टे अनार का रस मिला कर, कुछ अम्ल (खट्टा) बना कर या बिना खट्टा किए केवल मांसरस पिलाना चाहिए.

शशहरिणलावमांसैः कपिंजलैणेयकैः सुसिद्धैश्च, भोजनमद्यादम्लैर्मधुरैरीषत् समरिचैर्वा. दक्षशिखितित्तिरिरसैर्द्विककुलोपाकजैश्च मधुराम्लैः, अद्याद्ररतिवहेष्वर्शः स्वनिलो ल्बणशरीरः [चरकसंहिता, चिकित्सा स्थानम् 14 / 206-07]

अर्थ- 1. खरहा, हरिण, लवा, कपिंजल (गौरैया), एण (मृग विशेष) इन के मांस को विधिपूर्वक बना कर उस में अम्लरस, कुछ मधुर रस और मरिच का चूर्ण मिला कर भात के साथ खाए.

2. अथवा मुरगा, मोर, तीतर के मांस के साथ भात खाए.

3. अथवा ऊंट और लोमड़ी के मांस के साथ अन्न का सेवन करना चाहिए. दूसरे और तीसरे योगों में भी मांसरस में खट्टा और मीठा मिला देना चाहिए. ये तीनों नुसखे (योग) उन के लिए हैं जिन के शरीर में वात की प्रधानता हो और रक्त अधिक मात्रा में निकलता हो.

श्वास रोग

वातिक रोगी को घी, मांसरस आदि से तृप्त कराने का विधान करते हुए चरक कहते हैं:

वातिकान् दुर्बलान् बालान् वृद्धांश्चानिलसूदनैः,तर्पयेदेव शमनैः स्नेहयूषरसादिभिः [चरक संहिता, चिकित्सास्थानम् 17/90]

अर्थ- हिक्का (हिचकी) श्वास रोग से पीड़ित वातिक (वातप्रधान), दुर्बल, बालक और वृद्ध पुरुष हो तो उसे वातनाशक औषधियों का प्रयोग कराते हुए हिक्का श्वास को शांत करने वाले स्नेह, यूष, मांसरस आदि से तर्पण कराना चाहिए.

बर्हितित्तिरिदक्षाश्च जांगलाश्च मृगद्विजाः,दशमूलीरसे सिद्धाः कौलत्थे वा रसे हिताः [चरक संहिता, चिकित्सा स्थानम् 17/93.]

अर्थ- दुर्बल तथा वातप्रधान हिक्काश्वास के रोगियों को मजबूत करने के लिए मोर, तीतर, मुरगा, जंगली पशुपक्षियों के मांस को दशमूल या कुलथी के काढ़े में डाल कर पिलाना चाहिए.

खांसी में मांस रस

कास (खांसी) से यदि शरीर कमजोर हो गया हो तो लवा आदि पक्षियों के मांसरस का सेवन करें.

मांसोचितेभ्यः क्षामेभ्यो लावादीनां रसा हिताः [चरक संहिता चिकित्सा स्थानम् 18/141.]

गोबर व लीद

द्रव्याणां तु घृतोक्तानां क्षारोऽविमूत्रगालितः ।।२०।। ग्राम्यसत्त्वशकृत्क्षारैः संयुक्तः साधितः शनैः । तत्रोषकादिरावापः कार्यस्त्रिकटुकान्वितः ।।२१।। एष क्षारोऽश्मरीं गुल्मं शर्करां च भिनन्त्यपि ।[सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् 7/20-2**]**

अर्थ- घृतों के लिये कहे वर्गों के द्रव्यों को लेकर तिल नालों से जलाकर, इनको भेड़ के मूत्र में घोलकर छान लेवे। इसमें गाय- बकरी आदि ग्राम्य पशुओं के गोबर लीद आदि को जलाकर बनाया क्षार, मिलाकर इनको धीरे धीरे पकाये। पकाते समय इसमें ऊषकादिगण का प्रक्षेप और त्रिकटु मिला दे। यह क्षार अश्मरी को, गुल्म को, शर्करा को नष्ट करता है ॥ २०,२१॥

यहाँ गाय बकरी आदि पशुओं के लीद का उपयोग किया गया है।

भेड़ का मूत

तिळापामार्गकदलीपलाशयववल्कजः क्षारः पेयोऽविमूत्रेण शर्करानाशनः परः ।

अर्थ- तिल, चिरचिट, केला, ढाक, जौ के तुष, इनका क्षार, भेड़ के मूत्र से पीना चाहिये। यह शर्करा(Sugar) को नष्ट करता है। (क्षार की मात्रा दो कर्ष या तीन कर्ष लेकर दो पल मूत्र से पीये)॥

पाटलाकरवीराणां क्षारमेवं समाचरेत् ॥

अर्थ- पाटला और करवीर (कनेर) के क्षार को भी इसी प्रकार मेड़ के मूत्र से बरते ॥२३॥

वदंष्ट्रायष्टिकाब्राह्मोकल्कं वाऽक्षसमं पिबेत् ।

अर्थ - गोखरू, मुलैहठी और ब्राह्मी का कल्क एक कर्ष मात्रा में भेड़ के मूत्र से पीये ।

सडकाख्यौ पेयौ वा शोभाञ्जनकमार्कवौ ॥२४॥

अर्थ - पनवाड़, सुहांजना और भांगरा इनको भेंड़ के मूत्र से पीये ॥[सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् 7,२२-२४]

हाथी की लीद

क्षारे सुदग्धे गजगण्डजे तु गजस्य मूत्रेण बहुस्नुते च, श्वित्रं प्रलिंपेदथ संप्रघृष्य तया ब्रजेदाशु सवर्णभावम्. [सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् 9/2-22]

अर्थ- हाथी की लीद को भली प्रकार जला कर बनाए क्षार को हाथी के मूत्र में घोल कर कई बार निथार लें... श्वित्र को घिस कर उस पर इन का लेप करें. इस से त्वचा के समान रंग आता है।

पशु की खाल की राख

त्वचा के एक रोग (पुंडरीक कुष्ठ,श्वित्र) में छालों के फूटने पर जो दवाई लगाई जाती है, उस में हाथी या चीते की खाल की राख डाली जाती है. सुश्रुत का कहना है:

हैप दग्धं चर्म मातंगजं वा भिन्ने स्फोटे तैलयुक्तं प्रलेप: - [सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा स्थानम् 9/6]

अर्थ- चीते या हाथी की खाल को जला कर उस की राख को आवर्त की जड़ से सिद्ध किए तेल में मिला कर छालों के फूटने पर लेप करें.

सांप की राख

फुलबहरी नष्ट करने के लिए सुश्रुत कहते हैं:

कृष्णस्य सर्पस्य मसी सुदग्धा बैभीतकं तैलमथ द्वितीयम्. 'एतत्समस्तं मृदितं प्रलेपात् श्वित्राणि सर्बाण्यपहंति शीघ्रम्. – [सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा स्थानम् 9/7]

अर्थ- काले सांप को अच्छी तरह से जला कर बनाई राख को बहेड़े के तेल में मिला कर लेप करने से सब प्रकार के श्वित्र (फुलबहरी रोग) नष्ट होते हैं.

बकरे व ऊदबिलाव के अंडकोष व वीर्य

वाजीकरण (सेक्स पावर बढ़ाने) के लिए जो नुस्खे सुश्रुत संहिता में अंकित हैं उन में बकरे और शिशुमार (ऊदबिलाव) के अंडकोशों का इस्तेमाल होता है. जानवरों तथा इन्सान के वीर्य को पीने का भी विधान किया गया है:

बस्ताण्डसिद्धे पयसि भावितानसकृत्तिलान्. शिशुमारवसापक्वा शुष्कुल्यस्तैस्तिलैः कृताः,यः खादेत् पुमान् गच्छेत् स्त्रीणां शतमपूर्ववत्. [सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् 26/18-19]

अर्थ- बकरे के अंडकोष से सिद्ध किए दूध में तिलों को बहुत बार भावित कर के दूध के अनुपात से खाएं. इन्हीं तिलों की बनाई कचौरियों को शिशुमार (ऊदबिलाव) की वसा (चरबी) में पका कर खाएं. जो पुरुष इस प्रकार करता है वह एक सौ औरतों में प्रथम सुरत (पहले संभोग) की तरह रमण करता है.

पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे क्षीरसर्पिषि, साधिते भक्षयेमद्यस्तु स गच्छेत् प्रमदाशतम्. [सुश्रुत संहिता, चिकित्सास्थानम् 26/20]

अर्थ- दूध से निकाले घी में पिप्पली और लवण के साथ बकरे के अंडकोशों को अंड सिद्ध कर के जो पुरुष खाता है वह एक सौ स्त्रियों से रमण कर सकता है.

बस्ताण्डे घृतसाधिते.पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे शिशुमारस्य वा खादेत्ते तु वाजीकरे भृशम्. कुलारकूर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत्. महिषर्षभबस्तानां पिबेच्छुक्राणि वा नरः [सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् 26/25-27]

अर्थ- घी में तले हुए बकरे के या शिशुमार (ऊदबिलाव) नामक जंतु के अंडकोशों को पिप्पली और सैंधा नमक के साथ खाएं. ये अतिशय वाजीकर (सेक्स शक्ति बढ़ाने वाले) हैं. केकड़ा, कछुआ, नक्र (घड़ियाल) के अंडकोशों को भी इसी प्रकार खाएं अथवा भैंसे, **बैल या बकरे के वीर्य को पीएं**.

हजारो बाते आयुर्वेद में बिना सर पैर की लिखी हुई है। कुछ उदहारण यहाँ दिखाया गया है, अधिक आप आयुर्वेद में देख सकते है।

ऋषि पराशर और व्यास : धर्म, नियोग तथा नैतिकता का प्रश्न

भूमिका

भारतीय परम्परा में ऋषियों को धर्म, ज्ञान और सदाचार का आदर्श माना गया है। समाज में धर्म की स्थापना केवल उपदेशों से नहीं होती, बल्कि श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण से भी होती है। इसी कारण शास्त्रों में बार-बार कहा गया है कि सामान्य लोग श्रेष्ठ व्यक्तियों के व्यवहार का अनुकरण करते हैं। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

“यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥” (गीता 3.21)

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, सामान्य लोग भी उसी का अनुसरण करते हैं। इसलिए ऋषियों और धर्माचार्यों के आचरण का धर्मानुकूल एवं आदर्श होना अपेक्षित है।

किन्तु महाभारत में वर्णित कुछ घटनाएँ ऐसी हैं, जिनके आधार पर यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या ऋषि पराशर और उनके पुत्र व्यास का आचरण वास्तव में धर्म और नैतिकता के अनुरूप था?

पराशर और सत्यवती का प्रसंग

महाभारत के आदिपर्व में सत्यवती स्वयं अपने और ऋषि पराशर के सम्बन्ध का वर्णन करती है। वह बताती है कि युवावस्था के प्रारम्भ में जब वह नाव चला रही थी, उसी समय महर्षि पराशर यमुना पार करने के लिए उसकी नाव पर आए।

महाभारत के अनुसार पराशर सत्यवती को देखकर कामातुर हो गए और उससे मधुर वचन कहने लगे। सत्यवती ने स्वयं को निषादकन्या बताया, किन्तु उसने यह भी कहा कि वह अपने पिता और ऋषि के शाप—दोनों से भयभीत थी। महर्षि द्वारा दुर्लभ वर दिए जाने के कारण वह उनके प्रस्ताव का विरोध नहीं कर सकी।

सत्यवती के कथन के अनुसार—

“अभिभूय स मां बालां तेजसा वशमानयत्”

अर्थात् उन्होंने अपने तेज के प्रभाव से मुझे अपने वश में कर लिया।

यहाँ एक महत्वपूर्ण नैतिक प्रश्न उत्पन्न होता है। यदि सत्यवती भय और दबाव की स्थिति में थी तथा वह स्वतंत्र रूप से सहमति देने की स्थिति में नहीं थी, तो क्या इस सम्बन्ध को पूर्णतः स्वेच्छापूर्ण कहा जा सकता है?

आलोचकों का तर्क है कि यदि पराशर कामेच्छा से प्रेरित थे, तो उन्हें विवाह जैसे सामाजिक और धर्मसम्मत मार्ग का अनुसरण करना चाहिए था। वेदों और धर्मशास्त्रों में व्यभिचार को निन्दनीय माना गया है। ऐसी स्थिति में यह घटना एक नैतिक विवाद का विषय बन जाती है।

दूसरी ओर परम्परागत व्याख्याकार यह कहते हैं कि यह सामान्य सांसारिक सम्बन्ध नहीं था, बल्कि एक विशेष उद्देश्य से सम्पन्न दिव्य प्रसंग था, जिसके परिणामस्वरूप महर्षि व्यास का जन्म हुआ। तथापि आधुनिक नैतिक दृष्टि से यह प्रश्न आज भी विवाद का विषय बना हुआ है।

व्यास और नियोग का प्रसंग

महाभारत में विचित्रवीर्य की मृत्यु के पश्चात् हस्तिनापुर उत्तराधिकारीविहीन हो गया। राजवंश के संरक्षण के लिए सत्यवती ने अपने पुत्र व्यास को नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया।

जब व्यास अम्बिका के पास गए, तब महाभारत के अनुसार उनके स्वरूप को देखकर अम्बिका भयभीत हो गई और उसने अपने नेत्र बन्द कर लिए। परिणामस्वरूप धृतराष्ट्र का जन्म अन्धत्व के साथ हुआ।

दूसरी बार जब व्यास अम्बालिका के पास गए, तब वह भी उन्हें देखकर भय से पीली पड़ गई, जिसके फलस्वरूप पाण्डु का जन्म हुआ।

बाद में जब पुनः नियोग की आवश्यकता हुई, तब अम्बिका ने स्वयं जाने के स्थान पर अपनी दासी को व्यास के पास भेज दिया।

इन घटनाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अम्बिका और अम्बालिका दोनों इस प्रक्रिया में सहज नहीं थीं। वे भय और संकोच की स्थिति में थीं।

सहमति (Consent) का प्रश्न

नियोग की व्यवस्था प्राचीन भारतीय समाज में एक विशेष सामाजिक उद्देश्य के लिए स्वीकृत थी, विशेषकर वंशरक्षा और उत्तराधिकारी प्राप्ति के लिए। किन्तु यह प्रश्न उठता है कि क्या नियोग केवल परिवार या समाज की आवश्यकता पर आधारित था, अथवा उसमें स्त्री की स्वतंत्र सहमति भी आवश्यक थी?

महाभारत में ही पाण्डु और कुन्ती का प्रसंग एक भिन्न उदाहरण प्रस्तुत करता है। जब पाण्डु पुत्र प्राप्ति के लिए कुन्ती को नियोग का प्रस्ताव देते हैं, तब प्रारम्भ में कुन्ती उसे स्वीकार नहीं करती। बाद में समझाने पर वह स्वेच्छा से सहमत होती है।

इस उदाहरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नियोग में स्त्री की इच्छा और सहमति का महत्व था।

यदि अम्बिका और अम्बालिका वास्तव में भयवश इस प्रक्रिया में सम्मिलित हुईं, तो आलोचकों के अनुसार इसे आदर्श नियोग नहीं कहा जा सकता। उनके मत में ऐसी स्थिति में स्त्री की स्वतंत्र इच्छा का अभाव दिखाई देता है।

धर्म और नैतिकता की कसौटी

यह सम्पूर्ण विवाद मूलतः दो दृष्टिकोणों के बीच है।

पहला दृष्टिकोण यह मानता है कि महाभारत के पात्रों को उनके युग, सामाजिक परिस्थितियों और तत्कालीन धर्मव्यवस्था के संदर्भ में समझना चाहिए। उस समय राजवंश की रक्षा सर्वोच्च प्राथमिकता थी और नियोग सामाजिक रूप से मान्य व्यवस्था थी।

दूसरा दृष्टिकोण आधुनिक नैतिकता और व्यक्तिगत सहमति के सिद्धान्त को आधार बनाकर इन घटनाओं का मूल्यांकन करता है। इस दृष्टि से भय, दबाव या सामाजिक बाध्यता के कारण स्थापित सम्बन्धों को नैतिक रूप से प्रश्नों के घेरे में रखा जाता है।

निष्कर्ष

ऋषि पराशर और व्यास से जुड़े ये प्रसंग भारतीय धार्मिक साहित्य के सबसे चर्चित और विवादास्पद प्रसंगों में से हैं। एक ओर परम्परा उन्हें महर्षि और धर्मज्ञ मानती है, वहीं दूसरी ओर इन घटनाओं के आधार पर उनके आचरण पर नैतिक प्रश्न भी उठाए जाते हैं।

विशेषतः सत्यवती, अम्बिका और अम्बालिका के प्रसंगों में सहमति, भय, सामाजिक दबाव तथा स्त्री की स्वतंत्र इच्छा जैसे प्रश्न आधुनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बन जाते हैं। इस कारण यह विषय केवल ऐतिहासिक या धार्मिक नहीं, बल्कि नैतिक और दार्शनिक विमर्श का भी विषय है।

अन्ततः पाठक को यह निर्णय स्वयं करना होगा कि इन घटनाओं को वह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में देखता है या आधुनिक नैतिक मानदण्डों की कसौटी पर।

निराकार से आकार

'सत्यार्थ प्रकाश' के प्रथम संस्करण **“निराकार"** का **"निर्गतः आकारो यस्मात् स निराकारः"** यह विग्रह किया था; परन्तु जनता ने स्वामीजी को लज्जित किया कि इस विग्रह से परमात्मा पहले साकार सिद्ध हो जाता है। क्योंकि उसमें पहले आकार था, तभी तो निकल गया। यदि उसमें कोई आकार नहीं था, तो निकल क्या गया ?

तब स्वामी ने अपने सिद्धान्त भंग के डर से **'सत्यार्थ प्रकाश'** के द्वितीय संस्करण में पूर्व के बहुब्रीहि समास विग्रह कों बदलकर तत्पुरुष समास का विग्रह क्रिया- **"निर्गत आकारात् स निराकार:"** पर **'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधि:'** (निषिद्ध लहसुन खाया भी सही कि-यह व्याधि दूर हो जावे; पर व्याधि गई भी नहीं) इस न्याय से इस विग्रह में भी परमात्माकी साकारता सिद्ध रही।

"आकार से निकला हुआ" इससे भी उसका आकार सिद्ध ही रहा बल्कि इस विग्रह में त्रुटि भी हो जाती है। वह यह कि द्रव्य से तो गुण होता है; पर गुण से द्रव्य नहीं होता । परमात्मा द्रव्य है, और आकार गुण; तब परमात्मा से तो आकार निकल सकता है; पर गुण-आकार से द्रव्यरूप परमात्मा कैसे निकले ? यह स्वामी ने स० प्र० में स्वयं भी स्वीकृत किया है-**"गुण से द्रव्य कमी नहीं बन सकता"** तब 'निराकार' शब्द से भी उस परमात्मा का आकार सिद्ध हो रहा है।

पृथ्वी भ्रमण खंडन = दयानंदभाष्य

पृथ्वी के भ्रमण का खंडन कर रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम पृथ्वी का भ्रमण नहीं मानते। परंतु जो दयानंद ने पृथ्वी का भ्रमण वेद से सिद्ध करने का प्रयास किया है, उसका खंडन किया जा रहा है-

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः (यजुर्वेद ३.६)

(अयम्) यह प्रत्यक्ष (गौः) गोलरूपी पृथिवी (पितरम्) पालने करनेवाले (स्वः) {स्वरादित्यों भवति निरुक्त २.१४} सूर्यलोक के (पुरः) आगे-आगे वा (मातरम्) अपनी योनिरूप जलों के साथ वर्त्तमान (प्रयन्) अच्छी प्रकार चलती हुई (पृश्निः) अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में (आक्रमीत्) चारों तरफ घूमती है ॥६॥

मातरम् = अपनी योनिरूप जलों के साथ वर्त्तमान,, व्याकरण धुरंधर महर्षि जी का क्या ही कहे

आक्रमीत्= चारों तरफ घूमती है।,,, ये अर्थ कैसे बना दिया; जाना, पास आना. आक्रमण आदि अर्थ है चारो तरफ घूमने का प्रमाण समाजी लोग अपने आर्ष ग्रन्थ से दे,

आप कहोगे महर्षि जी ने संस्कृत भाष्य में **"(अक्रमीत्) क्राम्यति"** यह अर्थ किया है। **क्राम्यत्** शब्द सप्तमी विभक्ति एकवचन में पयोग हुआ है। क्राम्यत् का अर्थ चलना अथवा गमन करना होता है। हिंदी भाष्य में "चारों तरफ घूमती है।" यह अर्थ पंडितो ने किया है फिर महर्षि जी पर दोष कैसे लगाया जा सकाता है। इसका उत्तर है की अनुवाद कर्ता ने महर्षि जी के अनुसार ही अर्थ किया है। दयानंद खुद भावार्थ में लिखते है *"पृथिवी जल और अग्नि के निमित्त से उत्पन्न अन्तरिक्ष वा अपनी कक्षा अर्थात् योनिरूप जल के सहित आकर्षणरूपी गुणों से सब की रक्षा करने वाले सूर्य चारों तरफ क्षण-क्षण घूमती है,"* जब क्राम्यत् का अर्थ केवल गमन करने के अर्थ में है तो दयानंद ने चारो तरफ घुमना यह अर्थ कैसे बनाया?

स्वकक्ष्यायामाकर्षणेन रक्षकस्यूर्यस्याभित: (दयानंद भाष्य) गुरुत्वाकर्षण का तो लेश मात्र झलक भी नहीं इस मन्त्र में पर दयानंद ने इसमे गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत भी घुसा दिया

मातरम्= माता, (गर्भो भूत्वा स मातरम् -ऐ० ब्रा)

आक्रमीत्- आ + क्रमु (पादविक्षेपे)'घञ्' (३-३-१८),, निर्भयता से जाना, रक्षण करना, बढ़ना

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसंदन् मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ।। ६ ।।

उ० आयं गौः पृश्निः । सार्पराज्ञ्य आर्षम् । गायत्रस्तृचः आहवनीयाग्न्युपस्थाने विनियुक्तः। अग्निः परापररूपेण स्तूयते। आयं गौः पृश्निरक्रमीत् । आक्रमीत् आक्रमते ऐश्वर्यरूपेणायमग्निः गौः गन्ता। सर्वासु तासु तासु क्रियासु पृश्निर्नानारूपः असदन्मातरं पुरः इमं लोकमग्निरूपेणानुगृह्य ततः प्रातरादित्यात्मना सीदति मातरं पृथिवीं पुरः पुरस्तात्प्राच्यां दिशि । किंच पितरं च प्रयन्त्स्वः पितरं द्युलोकं च प्रयन् गच्छन् सीदतीत्यनुवर्तते । स्वः स्वर्गे आदित्यः ॥ ६ ॥

म० 'आयं गौरिति चोपतिष्ठते सार्पराज्ञीभिर्दक्षिणाग्निमादधातीति' (का० ४ । ९ । १८-१९) । आयं गौरित्यादीनां तिसृणामृचां सार्पराज्ञीति नामधेयम् । सर्पराज्ञी कद्रूः पृथिव्यभिमानिनी । तया दृष्टत्वात् ताभिर्ऋग्भिराहवनीयमुपतिष्ठते । ततो दक्षिणाग्निमादध्यादिति सूत्रार्थः । गायत्रस्तृचः । अग्निः परावररूपेण स्तूयते । अयं दृश्यमानोऽग्निः आ अक्रमीत् सर्वत आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निस्थानेषु सर्वतः क्रमणं पादविक्षेपं कृतवान् । किंभूतोऽग्निः । गच्छतीति गौः यज्ञनिष्पत्तये तत्तद्यजमानगृहेषु गन्ता । 'गमेर्डोप्रत्ययः' (उ० २ । ६६)। तथा पृश्निः चित्रवर्णः । लोहितशुक्लादिबहुविधज्वालोपेतः । आक्रमणमेवाह । पुरः प्राच्यां दिशि मातरं पृथिवीमसदत् आसीदत् आहवनीयरूपेण प्राप्तवान् । तथा स्वः प्रयन् आदित्यरूपेण स्वर्गे संचरन् पितरं च द्युलोकमपि असदत्प्राप्तवान् । स्वःशब्देन सूर्यः (निघ० १ । ४ । १)। द्युलोकभूलोकयोर्मातापितृत्वमन्यत्रापि श्रूयते । 'द्यौः पिता पृथिवी माता' इति ॥ ६ ॥

कुछ समाजी **मतरम्** का अर्थ जल करने का प्रयास करते है

मतरम् का अर्थ पृथ्वी

यज्ञ का प्रकरण है यहाँ ५ वे मन्त्र में कहा गया

देव यजनि पृथिवि= देवों के यजन के लिए स्थान देनेवाली पृथिवी !; **तस्याः ते पृष्ठे** = उस तेरी पीठ पर; **अन्नाद्याय** = अन्न के भक्षण के लिए; **अन्नादं अग्निं आ दधे** = अन्न भक्षक अग्नि की स्थापना करता हूँ। (इससे); **भूम्ना द्यौः इव** = मै विशालता से द्युलोक के समान और; **वरिम्णा पृथिवी इव**= वरिष्ठता से पृथिवी के समान होऊं

यजमान यज्ञ के लिए पृथ्वी के पीठ पर यज्ञ की स्थापना कर रहा है स्वयं पृथ्वी के सामान होने की कमाना है। अगले मन्त्र में अग्नि पृथ्वी के पास जा रही है स्थापित हो रही है इसीलिए **"पुरः मातरम् असदत्"**(3.6) = प्रथम माता के पास गया अथवा माता का आश्रय लिया । अब अग्नि तो पृथ्वी पर ही आश्रित होती है समाजियों के यहाँ जल में आग लगती है क्या?

गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद् दूरं गता भवति। यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। गावकारो नामकरणः। निरुक्त

= **गौः** यह पृथिवी का नाम है, क्योंकि दूर गई हुई होती है। और जो इस पर भूत' जाते हैं। गाति से अथवा ओकार नामकरण = कृत् प्रत्यय है।

समाजी इसपर नंगा नाच करते है यहाँ कहा लिखा है की पृथ्वी सूर्य के चारो तरफ गति करती है। पृथ्वी दूर गई हुई है इससे क्या सिद्ध होता है? 'गौ' में 'गम्' धातु है जो गति अर्थ में आता है इसीलिए यास्क ने पृथ्वी के साथ इसकी समानता दिखाने का यत्न किया है। और वो भी ठीक से दिखा नहीं पाये।

इसी मन्त्र के भाष्य करते हुए महर्षि जी अपने भाष्य भूमिका में लिखते थे

(श्रायं गौः ०) श्रयं गौः पृथिवीगोल: सूर्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदा- क्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथान्येऽपि । त्रातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती, तथा (स्वः) सूर्य पितरमग्निमयं च पुरः पूर्व पूर्व प्रयन् सन् सूर्य्यस्य परितो याति । एवमेव सूर्यो वायुं

पितरमाकाशं मातरं च, तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं प्रति चेति योजनीयम्।" *वे सब अपनी-अपनी परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में सदा घूमते रहते हैं। परन्तु जो जल है, सो पृथिवी की माता के समान है। क्योंकि पृथिवी जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुत्रों के संयोग से ही उत्पन्न हुई है। और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है।*"

ये वेद मन्त्र से सिद्ध करके दिखाए समाजी,, कहा लिखा है। अपने मन से कुछ भी लिख देतो हो? आगे दो मन्त्र और है उसमे भी यही फालतू अर्थ किया है शब्द कुछ है अर्थ कुछ है। वेद में कोई ऐसा मन्त्र नहीं है जिसमे ये लिखा हो की पृथ्वी सूर्य के चारो तरफ घुमता है।

दयानंद **ऋग्वेद ८.४८.१३** मे चन्द्रमा पृथ्वी के चारो ओर घुमता है यह अर्थ किया है। जबकि शिव शंकर समाजी ने दूसरा ही अर्थ किया है

मैं जैसे (ऋदूदरेण) शरीरहितकारी उदररक्षक (सख्या) मित्रसमान लाभदायक सोमरस को (सचेय) ग्रहण करता हूँ, तद्वत् अन्यान्य जन भी करें। (यः+पीतः) जो पीने पर (मा+न+रिष्येत्) मुझको हानि नहीं पहुँचाता है, वैसे स्वल्प पीने से किसी को हानि न पहुँचावेगा। (हर्य्यश्व) हे आत्मन् ! (अयम्+यः+सोमः) यह जो सोमरस (अस्मे+न्यधायि) हम लोगों के उदर में स्थापित है, वह चिरकाल तक हमें सुखकारी हो (तस्मै+प्रतिरम्+आयुः) उससे आयु अधिक बढ़े, ऐसी (इन्द्रम्+एमि) ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ॥१०॥

समाजी कहेंगे की वेद के तो तीन प्रकार के अर्थ होते है। इसी चक्कर में किसी वेद मन्त्र का एक निश्चित अर्थ समाजी लोग निर्धारित नहीं कर पाए है। वास्तव में सभी वेद मंत्रो के तीन प्रकार के अर्थ नहीं होते है।

दयानंद ऋग्वेद १०.६५.६ का अर्थ करते है -

(अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती , पर्य्येति विवस्वतेऽर्थात् सूर्यस्य परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति

अवारतः इस शब्द का अर्थ ब्रह्म मुनि ने **"बिना अवरोध के"** किया है। यदि **'निरंतर' 'अवारतः'** का अर्थ मान भी लिया जाये फिर भी आगे जो दयानंद कह रहे है की पृथ्वी आदि लोक सूर्य के चारो ओर घुमते है। यह तो **अवारतः** शब्द का अर्थ नहीं है। फिर दयान्द ने यह अर्थ कैसे किया ? अन्य शब्दों का भी यही हाल है। कुछ यहाँ उदहारण के रूप में दिखाया गया है। बुद्धिमान लोग इतने से ही दयानंद भाष्य की सत्यता को समझ जायेंगे। गुलाम कल भी गुलामी करते थे आज भी गुलामी करेंगे

(व्रतनीः) व्रतं स्वकीय- भ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती-

ये देखो अब मै क्या बोलू

वेदों में स्थिर पृथ्वी

यः पृथ्वीं व्यथमानामदृहत् यः जनास इंद्रः-.ऋग 2/12/2

अर्थात हे मनुष्यो, जिस ने कांपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया, वह इंद्र है.

सायन ने पृथ्वी को गमन शील कहा है ठीक बात है पर इसी सायन ने इसे स्थिर भी कहा है। सायन के अनुसार पहले पृथ्वी मे गति थी वह हिलती डुलती रहती थी बाद मे इंद्र ने उसे स्थिर किया। इस प्रकार देखो तो कोई विरोधाभास नही है।

सायन भाष्य- **हे जनाः य इंद्रो व्यथमानां चलंतीं पृथिवीमदृंहत**

=हे लोगों, वह इंद्र जिसने हिलती हुई पृथ्वी को स्थिर किया है।

पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ढा येन॒ -यजु ३२.६

=जिसने पृथ्वी को दृढ=स्थिर किया है।

दृढ शब्द '**दृह वृद्धौ**' धातु से बना है तो समाजी यहाँ आनंद नृत्य कर सकते है। परन्तु इससे पृथ्वी को बढाया ऐसा निरर्थक अर्थ बन जायेगा। दृढ स्थिर अर्थ में प्रयोग होता है।

दृढ a. [दृंह्-क्त नि° नलोपः] 1 Fixed, firm, strong, unswerving, untiring; Bg. 15. 3; H. 3. 65; R. 13. 78

ध्रुवां भूमिं पृथिवीं चरेम अथर्व, १२.१.१७

अर्थात हम सदा विस्तृत और अचल भूमि पर विचरण करें.

ध्रुवं , क्ली, (ध्रुवति स्थिरीभवतीति। ध्रु + "स्रुवः कः।" उणां। २। ६१। इत्यत्र ध्रुवति स्थिरीभवतीति

ध्रु स्थैर्ये आदि धातु पाठ में उपलब्ध है।

वेदों में पृथ्वी के लिए **'निर्ऋति'** शब्द का प्रयोग भी हुआ है. वेदों के कोश निघंटु (1/1) में **'निर्ऋति'** शब्द पृथ्वी के पर्यायवाचियों में लिखा है. इस का अर्थ है: **निर्** + **ऋति (ऋ गतौ)** अर्थात **गतिहीन**. इसीलिए आज तक संस्कृत और हिंदी के शब्दकोशों में पृथ्वी का एक नाम 'अचला' (गतिहीन) है. ऐसे में वेदों में विज्ञान की क्या आशा की जा सकती है? इसीलिए समाजी लोग वास्तविक विज्ञान की पुस्तक पढ़े वेदों में विज्ञान न खोजे

शिर पर बाल रखने से बुद्धि हुई कम

जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखा सहित छेदन करा देना चाहिये **क्योंकि शिर में बाल रहने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम हो जाती है। (satyarth Prakash,10)**

अनुशीलन:- ये कैसा मुर्खतापूर्ण कथन है सर पर केश रखने से बुद्धि कम हो जाती है। शायद इसीलिए आर्य समाजियों में बुद्धि कम होती है।

पशु बलि

वेदिक संस्कृति में यज्ञ एक महत्वपूर्ण धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठान रहा है। वेद और अन्य प्राचीन शास्त्रों में कुछ विशिष्ट यज्ञों में पशु बलि का उल्लेख मिलता है। यह एक जटिल और संवेदनशील विषय है जिसमें धार्मिक परंपरा, सामाजिक मान्यताएं और नैतिक चिंतन शामिल हैं।

वैदिक काल में पशु बलि को देवताओं को प्रसन्न करने और विभिन्न सामाजिक-धार्मिक उद्देश्यों के लिए एक महत्वपूर्ण अनुष्ठान माना जाता था। **कई बड़े यज्ञों जैसे अश्वमेध, राजसूय और अन्य संस्कारों में पशु बलि का विधान था।** इसका अर्थ यह था कि पशु को पवित्र माना जाता और उसे देवताओं के लिए समर्पित किया जाता। हालाँकि, समय के साथ भारतीय दर्शन और धार्मिक चिंतन में इस प्रथा पर गहन विमर्श होता रहा। बौद्ध और जैन दर्शन ने हिंसा के विरुद्ध अहिंसा के सिद्धांत को बल दिया। महात्मा बुद्ध और महावीर ने पशु बलि की निंदा की और जीवन के प्रति सम्मान का आह्वान किया। महात्मा गांधी जैसे आधुनिक विचारकों ने भी अहिंसा के सिद्धांत पर बल दिया।

आधुनिक समय में, वैदिक परंपराओं की व्याख्या में महत्वपूर्ण बदलाव आए हैं। कई विद्वान और धार्मिक नेता पशु बलि के प्रतीकात्मक अर्थ पर जोर देते हैं। उनका मानना है कि मूल उद्देश्य त्याग और समर्पण की भावना को दर्शाना था, न कि वास्तविक पशु हिंसा। आज के समय में, अधिकांश हिंदू परंपराएं पशु बलि का विरोध करती हैं। कई मंदिरों और धार्मिक संस्थाओं ने इस प्रथा को पूरी तरह से त्याग दिया है। संवैधानिक और कानूनी स्तर पर भी पशु{विशेस रूप से गाय} बलि पर प्रतिबंध लगाए गए हैं। भारत में अभी भी पशु बलि मंदिरों में होती है इस में कोई संदेह नहीं है।

यह विषय केवल धार्मिक नहीं, बल्कि नैतिक, सामाजिक और पारिस्थितिक दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है। इसमें जीवन के प्रति सम्मान, अहिंसा और करुणा जैसे उच्च मानवीय मूल्यों पर गहन चिंतन की आवश्यकता है। परन्तु प्राचीन काल के शास्त्रों की तथा लोगो की मान्यताये अलग थी। अभी भी समाज में उन नियम के समर्थक लोग विद्यमान है। वे परम्परावादी शास्त्रीय नियमो को उचित मानते है। प्राचीन काल में हिन्दू धर्म का स्वरूप वही था जो परम्परागत पंडित बताते है, बांकी बची हुई बात शास्त्र स्वयं कह उठते है।

यज्ञ में हिंसा, हिंसा नहीं

निःसंदेह हिंसा का विरोध वैदिक शास्त्रों में मिलाता है परन्तु यहाँ हमको एक बात समझनी होगी की वैदिक लोग यज्ञ में की गई 'हिंसा' को 'हिंसा' ही नहीं मानते है। अत: वो हिंसा करके भी अपने आप को अहिंसक कहते थे। तात्पर्य यह है की **शास्त्रों में हिंसा का विरोध**, **यज्ञ में हिंसा का विरोध नहीं है**। मनुस्मृति(अध्याय ५) का अवलोकन करे-

कुर्याद् घृतपशुं संगे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा । न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥

पशुमांस खाने की अधिक इच्छा होने पर घी से बने पदार्थों का पशु बनाकर खा ले अथवा चून का ही पशु बनाकर खा ले किन्तु कभी भी यज्ञादि उद्देश्य के बिना पशु को मारने की भी इच्छा न करे, फिर खाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता ॥ ३७ ॥

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो हि मारणम्। वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

यज्ञ-देवता आदि के उद्देश्य के बिना पशुओं को मारने वाला मरकर जन्म-जन्मान्तरों में जितने उस मारे ये पशु के रोम हैं उतनी ही बार मारा जाता है ॥ ३८ ॥

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः । अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते॥३१॥

यज्ञ के लिए मांस का खाना यह 'दैवविधि' मानी गयी है इस से भिन्न विधि मांस खाना तो 'राक्षसविधि' कही गयी है॥ ३१ ॥

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३९॥

ब्रह्मा ने स्वयं ही पशुओं को यज्ञ के लिए बनाया है और यज्ञ सब के कल्याण के लिए है इस कारण से यज्ञ में 'पशु आदि प्राणियों की हिंसा करना' अहिंसा ही है॥ ३९ ॥

आदिशंकर ने वेदांत ३.१.२५ में पशु बलि अपवाद रूप स्वीकार की है। आचार्यो और वेद स्मृति का मत है की इससे उस पशु की उत्तम गति होती है वह स्वर्ग को जाता है ऐसा शास्त्रीय प्रमाण है।

रामानुजाचार्य इसी सूत्र ३.१.२५ के भाष्य में लिखते है (शब्द विस्तार के भय से संस्कृत वाक्य नहीं दिया जा रहा है।)-

पूर्वपक्ष में प्रश्न उपस्थित किया – अग्निसोमीय यज्ञ हिंसायुक्त होते हैं, **'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि'** "प्राणिमात्र की हिंसा मत करो" इत्यादि में हिंसा का निषेध किया है, अतः हिंसा करना पाप ही है। यहाँ पर पदाहवनीयादि की तरह, उत्सर्गापवाद भाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह विषय ही भिन्न है। अग्निषोमीय हिंसा विधि तो, हिंसा की यज्ञोपकारकता की ही बोधक है, **"न हिंस्यात्"** इत्यादि में तो सामान्यतः हिंसा की पाप जनकता बतलाई गई है।

सिद्धांत पक्ष - जैसा तर्क उपस्थित किया गया, बात वैसी नहीं है उक्त मत शास्त्र सम्मत नहीं है। अग्नीसोमीय आदि जो हिंसा की विधि है, वह स्वर्ग लोक की प्राप्ति का हेतु है, इसीलिए उसे अहिंसा शब्द से प्रयोग किया गया है। पशु के विधिपूर्वक वध करने पर स्वर्गलोक की प्राप्ति का स्पष्ट उल्लेख, श्रुति में है "हिरण्य (स्वर्णमय) शरीर धारण करके, ऊर्ध्वगामी स्वर्गलोक प्राप्त करता " इत्यादि। अत्यंत अभ्युदय की साधन रूपा क्रिया, थोड़ी दुःखदायी भी हो तो उसे हिंसा नहीं कहते श्रपितु वह रक्षण ही है। वैदिकमंत्र में भी जैसे - " हे पशु। इस प्रकार के वध से तुम मरते नहीं, और न हिंसित ही होते हो, तुम सरल रीति से देवमार्ग को प्राप्त हो रहे हो। जहाँ पुण्यवान् ही जाते हैं, पापी नहीं जाते, उस स्थान में सवितादेव तुम्हें पहुँचावें।" (तै०ब्रा०३ /०७/७) इत्यादि चिकित्सक भी चिकित्सा के समय रोगी को थोड़ा बहुत दुःख देते ही हैं फिर भी, समझदार लोग उन्हें रक्षक कहकर पूजते हैं।

"**अग्नीषोमीय आदि यज्ञों में होनेवाला पशु-बलिदान हिंसा नहीं है वह तो वेद में अत्यन्त निकृष्ट छागादि शरीरको छुड़ाकर कल्याणमय देह और स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाला बताया गया है। श्रुतिमें कहा है- 'हे पशो ! इस कर्मके हो, तुम्हें मारा नहीं जा रहा है; द्वारा निश्चय ही तुम मर नहीं रहे बल्कि सुगम मार्गसे तुम देवोंको प्राप्त हो रहे हो, जहाँ केवल पुण्य- कर्मा पुरुष ही जाते हैं, पापी नहीं। वहाँ तुम्हें सविता देव स्थापित करें।**' - तैत्तिरीयब्राह्मणम् /काण्डः ३/प्रपाठकः ०७/७- रामानुजाचार्य गीता भाष्य २.३१

न वा एतत्प्रीतिर्ने रिपिष्यते देवा इदेषि पथिभिः सुगेभिः । हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य ॥ (rig 1.162.21)(yaju 25.44)

हे अश्व! **इस प्रकार बलि दिए जाने पर न तो तुम मरते हो और न लोगों द्वारा हिंसित होते हो**. तुम उत्तम मार्गों द्वारा देवों के समीप जाते हो. इंद्र के हरि नामक घोड़े, मरुत् की वाहन हिरणियां एवं अश्विनीकुमारों के रथ में जुतने वाले गधे तुम्हारे रथ में जोते जाएंगे॥ (२१)

इस मंत्र पर आचार्य सायन ने लिखा है **"इदानीम् इतराश्ववत् मृतो भवसि देवत्वप्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्। अत एव "न "रिष्यसि= न हिंस्यसे। व्यर्थहिंसायाः अभावात्'**= इसका अर्थ यह है कि तुम अभी अन्य घोड़ों की तरह मृत नहीं हुए हो, क्योंकि तुम देवत्व को प्राप्त करोगे, जैसा कि आगे बताया जाएगा। इसी कारण से, "न रिष्यसि" का अर्थ है कि तुम हिंसा से नहीं मारे जाओगे, क्योंकि तुम्हारी व्यर्थ हिंसा नहीं होगी।; (अश्व की हिंसा तो हो रही है लेकिन उसे हिंसा मानने से इनकार किया जा रहा है क्योकि इस हिंसा से अश्व को देवत्व अथवा स्वर्ग की प्राप्ति होती है।)

ननु प्रत्यक्ष्यतो मृतिः अवयवनाशश्च दृश्यते कथमेवमुच्यते इति= (**प्रश्न पूछा**) परंतु, प्रत्यक्ष रूप से मृत्यु और शरीर के अंगों का नाश दिखता है, तो ऐसा कैसे कहा जा सकता है की पशु की हिंसा नहीं हो रही?

(उत्तर) **उच्यते। "सुगेभिः "पथिभिः शोभनगमनसाधनैर्मार्गैः देवयानलक्षणैः "देवान "इत् "एषि देवानेव प्राप्नोषि। अतो युक्तैषोक्तिः। कैः साधनैरिति तत्राह। "ते त्वां वोढुं "हरी एतन्नामानौ इन्द्रस्याश्वौ ते तव "युञ्जा रथे युक्तौ "अभूतां भविष्यतः**

= इसका उत्तर दिया जाता है— तुम श्रेष्ठ मार्गों द्वारा देवताओं के पास जाओगे। **"सुगेभिः पथिभिः**" का अर्थ है शुभ यात्रा के मार्ग, जो देवयान के रूप में जाने जाते हैं। **"देवान इत् एषि"** का अर्थ है कि तुम देवताओं को ही प्राप्त करोगे। इसलिए, यह कथन उचित है। किन साधनों से यह यात्रा होगी? इसका उत्तर दिया जाता है— "ते" अर्थात् तुम्हें ले जाने के लिए "हरी" नामक घोड़े जो इन्द्र के वाहन हैं, वे तुम्हारे रथ में जोड़े जाएंगे। **"युञ्जा अभूतां**" का अर्थ है कि वे जुड़ जाएंगे।;

सायन ने प्रश्न उत्तर से माध्यम से स्पष्ट समझया है क्योकि पशु की हत्या व्यर्थ नहीं है। वह देवताओ के पास जाता है, इसमे उसका कल्याण निहित है, इसीलिए यहाँ पशु की हिंसा, हिंसा नहीं है।

यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीत्याम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत। (निरुक्त न1.16)

=जब अर्थ अनुपपन्न अर्थात अस्पष्ट हो तो आमन्नाय=वेद के सिद्धांत अनुसार अहिंसा ही अर्थ निकालना चाहिए।

जब हमको पता नही की मंत्र मे हिंसा है की अहिंसा उस स्थिति मे अर्थ स्पष्ट नही होता तब वेद के सिद्धांत अनुसार अहिंसा ही तात्पर्य है क्योकि वेद मे अहिंसा तो अहिंसा है ही, जबकि वेद आदेशित हिंसा भी, अहिंसा है। क्योकि इससे जगत कल्याण होता है।

भगवान मनु का वचन है **"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः**...५.३९ (पीछे उलेख किया जा चूका है।)

पशुओं को स्वयंभू ईश्वर ने यज्ञ मे बलि के उद्देश्य से बनाया है: बलिदान सभी प्राणियों के कल्याण के लिए अनुकूल है; इसलिए बलिदान में हत्या करना किसी भी तरह से 'हत्या' नहीं है

इस निरुक्त वचन(1.16) के भाष्य में भगवान **दुर्गाचार्य** ने **"स्वधिते मैनम् हिंसी"** इस मंत्र के उदाहरण से बताने का यही प्रयास किया है। शतपथ ब्राह्मण(३.६.४.१०)1 मे इसका इस प्रकार उल्लेख है

अथ दर्भतरुणकमन्तर्दधाति। ओषधे त्रायस्वेति वज्रो वै परशुस्तथो हैनमेष वज्रः परशुर्न हिनस्त्यथ परशुना प्रहरति स्वधिते मैनं हिंसीरिति वज्रो वै परशुस्तथो हैनमेष वज्रः परशुर्न हिनस्ति

फिर यज्ञ में (कुश या दर्भ) के नन्हे अंकुर को भीतर रखा जाता है। मंत्र पढ़ा जाता है- "हे ओषधि, इसकी रक्षा करो" परशु (कुल्हाड़ी) वास्तव में वज्र (शक्ति और कठोरता का प्रतीक) है। इसी प्रकार यह वज्र रूपी परशु इस (कुश) को वास्तव में चोट नहीं पहुँचाता। फिर (यज्ञ की प्रक्रिया के अनुसार) परशु से (कुश पर) प्रहार किया जाता है।मंत्र पढ़ा जाता है "हे स्वधिति (कृपाण), इसे मत काटो।" परशु वास्तव में वज्र और यह वज्र रूपी परशु वास्तव में इसे हानि नहीं पहुँचाता।

कुश को काटने पर भी कुल्हारी से प्राथना की जा रही है की तुम इसको काट नही रहे इसे हानि नही पहुँचा रहे। इसी प्रकार पशु मे भी समझना चाहिए पशु की हत्या, हत्या ही नही। ऐसा क्यो भला, हत्या को तो अहिंसा नही कहा जा सकता इस पर भगवान दुर्गाचर्या कहते है जो आपको ध्यान से पढना चाहिए-

इयं हिंसा, इयमहिंसेत्येतदान्नायादेवावसीयते।"

यह हिंसा है, यह अहिंसा है — यह बात आम्नाय (वेद) से ही समझी जा सकती है।

अर्थात अपने मन से 'हिंसा' 'अहिंसा' की परिभाषा मत बनाओ वेद जिसे हिंसा कहे वही हिंसा है और जिसे अहिंसा कहे वह अहिंसा है। कुमारिलभट्ट ने अपने मीमांसा सूत्र मे इसे अच्छे से बताया है।

आम्नायश्चायं वैदिक आगमः कृत्स्नस्य जगतः प्रतिविशिष्टाय श्रेयसेऽभ्युद्यतः सन्।"

आम्नाय (वेद) एक वैदिक शास्त्र है, जो समस्त जगत के विशेष कल्याण और उत्थान के लिए प्रयुक्त होता है।

कर्तारं हिंसायां विनियोजयतीत्यहिं सैवैषेति प्रतीयेत।"

यह (आम्नाय) कर्म करने वाले को हिंसा में प्रवृत्त करता हुआ भी वास्तव में अहिंसा का ही उपदेश देता है।

तद्वचनात् इति।=इसलिए, (हिंसा अहिंसा के निर्णय मे) यह (वेद का) वचन उचित और प्रमाण है।

अन्यत्र हिंसा अहिंसा का निर्णय

व्यास ने योगदर्शन २.३१ "जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्" के भाष्य में हिंसा अहिंसा का एक मानक बताया है। व्यास ने कुछ स्थितियों में हिंसा को शास्त्रीय कारणों से **"अहिंसा"** की तरह प्रस्तुत किया है, विशेषकर **युद्ध और यज्ञ संबंधी हत्याओं** को।

व्यास भाष्य- उनमें से जाति से सीमित अहिंसा यह है, जैसे—मछुओं का मछलियों को ही मारना, अन्य जीवों को न मारना। देश से सीमित अहिंसा यह है, जैसे—तीर्थ में जीवों को नहीं मारूँगा। काल से सीमित अहिंसा यह है, जैसे—चतुर्दशी के दिन या किसी पवित्र दिन में जीवहत्या नहीं करूँगा। (जाति, देश और काल) इद तीनों से रहित, किन्तु आचारपरम्परा से सीमित अहिंसा वह है, जैसे- देवताओं और ब्राह्मणों के लिए हत्या करूँगा और किसी प्रयोजन से नहीं। या जैसे क्षत्रियों को युद्ध में ही हिंसा करनी चाहिए, अन्यत्र नहीं। इन जाति, देश, काल और आचार-परम्परा से असीमित अहिंसा इत्यादि (यमों) का सदा पालन करना चाहिए। सर्वभूमिषु का अर्थ है सभी विषयों में, सभी प्रकार से अव्यभिचरित अर्थात् सार्वभौम (ये यम) महाव्रत कहे जाते हैं ॥ ३१ ॥ (शब्द विस्तार के भय से संस्कृत नहीं दिया गया है, link पर जा कर प्रमाण देखा जा सकता है)

वे 4 स्थान जहाँ हिंसा को अहिंसा कहा गया है:

1. **जाति से सीमित अहिंसा (जो वास्तव में हिंसा है)**
    - *उदाहरण:* मछुआरे केवल मछलियों को मारते हैं, अन्य जीवों को नहीं मारते।
    - **यह हिंसा ही है**, लेकिन इसे अहिंसा के रूप में प्रस्तुत किया गया है।
2. **देश से सीमित अहिंसा (जो वास्तव में हिंसा है)**
    - *उदाहरण:* तीर्थ स्थानों में जीवों की हत्या नहीं करना, लेकिन अन्य स्थानों पर करना।
    - **यह भी हिंसा ही है**, लेकिन स्थान विशेष के कारण इसे अहिंसा बताया गया है।
3. **आचार-परंपरा से सीमित अहिंसा (जो वास्तव में हिंसा है)**
    - *उदाहरण:* देवताओं और ब्राह्मणों के लिए हत्या करना। (जैसे यज्ञ आदि में पशु हत्या)

- **यह हिंसा है**, लेकिन इसे धार्मिक कर्म के नाम पर अहिंसा बताया गया है।

4. **क्षत्रियों का युद्ध में हिंसा करना**
    - *उदाहरण:* क्षत्रियों को केवल युद्ध में हिंसा करनी चाहिए, अन्यत्र नहीं।
    - **यह भी हिंसा है**, लेकिन धर्मयुद्ध के रूप में इसे अहिंसा माना गया है।

वास्तविक अहिंसा जिसको महाव्रत कहा गया है वही है जो **जाति, देश, काल और आचार-परंपरा से असीमित हो**, अर्थात जो महाव्रती नहीं है वो इन चार जगहों पर हिंसा कर सकता है, उसे कोई पाप नहीं लगता। लेकिन इन 4 परिस्थितियों में व्यास ने हिंसा को धार्मिक आधार पर अहिंसा का रूप दे दिया है।

अध्वर

आर्य समाजी यज्ञो में बलि का विरोध करते है। सभी समाजी अपने पुस्तकों में **'अध्वर'** शब्द पर नागिन डांस करते हुए देखे जा सकते है। एक उदहारण- **'अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरतिहिंसा कर्मा तत्प्रतिषेध**(nirukt) = अध्वर यज्ञ का नाम है। ध्वरति धातु हिंसा आर्थों में है। जिस कर्म में हिंसा का प्रतिषेध हो. उस कर्म का नाम अध्वर या यज्ञ है।;-(मंसाराम आर्य समाजी,पौराणिक पोल प्रकाश)

यदि ऐसा अर्थ होता तो ऋग्वेद यजुर्वेद आदि में यज्ञ में पशु हत्या का विधान नहीं मिलाता। अध्वर शब्द का अर्थ शास्त्रों में किस प्रकार मिलाता है उसको देखना चाहिए

अग्ने यं यज्ञमध्वरं....(ऋग० १.१.४) इस मंत्र के भाष्य में आचार्य सायन '**अध्वर**' शब्द का अर्थ करते हुये लिखते है- "**अध्वरं हिंसारहितम् । न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवन्ति**= अध्वरं का अर्थ है **हिंसारहित यज्ञ**। क्योंकि अग्नि द्वारा यज्ञ की पूर्ण रूप से रक्षा नहीं की जा सकती, इसलिए राक्षस आदि उसे हानि पहुँचाने में सक्षम होते हैं; (परन्तु यज्ञ में बाधा नहीं डाल पाते)

इस हिसाब से देखे तो यहाँ कोई पशु हिंसा के विरोध की बात नहीं दिखती जबकि राक्षस के हिंसा के बारे में उल्लेख मिलाता है। पूरी कहानी को समझने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ देखना चाहिए

तं वाऽएतम् । अध्वरवन्तं त्रिचमन्वाह देवान्ह वै यज्ञेन यजमानान्त्सपत्ना असुरां दुधूर्षाच्चकुस्ते दुघूर्षन्त एव न शेकुर्धर्वितुं ते पराबभूवुस्तस्माद्यज्ञोऽभ्वरो नाम दुघूर्षन्ह वाऽएन सपलः पराभवति यस्यैवं विदुषोऽध्वरवन्तं त्रिचमन्वाहुर्य्यावद्द्वेव सौम्येनाध्वरे-णेष्टवा जयति तावज्जयति ॥ (Sathpath brahman 1.4.1.40)

अध्वर' शब्द वाले तृच (तीन ऋचाओं के समूह) को पढ़ता है। जब देव यज्ञ कर रहे थे तो उनके शत्रु असुरों ने उस यज्ञ का विध्वंस करना चाहा। परन्तु विध्वंस की इच्छा करते हुये भी वह विध्वंस न कर सके। वे हार गये। **इसलिये यज्ञ का नाम अध्वर हुआ**। जो इस रहस्य को समझता है और अध्वर शब्द वाले तृच् को पढ़ता है उसके शत्रु उसका विध्वंस चाहते हुये भी उसका विध्वंस नहीं कर सकते। वे परास्त हो जाते हैं। वह सौम्य-अध्वर को करके विजय प्राप्त कर लेता है। जीत जाता है। (सौम्येन अध्वरेण = सोमयाग सम्बन्धी अध्वर) ॥॥४०॥

अत: अध्वर शब्द से यज्ञ में पशु हिंसा का निषेध नहीं होता जबकि राक्षस यज्ञ को नष्ट करना चाहते थे और वो नहीं कर पाए इसीलिए यज्ञ का नाम अध्वर हुआ।

स्कन्द स्वामी इसी वेद मंत्र (ऋग० १.१.४) पर भाष्य करते हुए हुए लिखते है-

हे अग्ने। यं यज्ञं अध्वरम्। अध्वरमिति अत्र न यज्ञनाम। हिंसारहितमध्वरम्। ध्वर हिंसायामिति धातुः। सर्वानुग्रहकरम्। हिंस्यानाम्पश्वादीनामप्यनुग्रह एव। कस्मात्

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः (मनु० ५-४०)

सायन से भी प्राचीन भाष्यकार स्कन्द स्वामी ने मनुस्मृति ५.४० को प्रमाण माना है पर ये नविन आर्य समाजी सुरेन्द्र कुमार इसको मिलावट बोलता है| जो इनको अच्छा नहीं लगता सब मिलावट है|

इत्याह। तस्मादुपपन्नमध्वरमिति। अथवा। षष्ठयर्थे बहुव्रीहिः। अविद्यमानों ध्वरो यस्य स अध्वरः। रक्षोभिरहिंसितः। .....

हे अग्ने! जो यज्ञ अध्वर (हिंसारहित) है, उसे तू जानता है। **"अध्वर"** यहाँ यज्ञ का कोई नाम नहीं है, बल्कि इसका अर्थ **हिंसारहित** है। **ध्वर** धातु का अर्थ हिंसा होता है। **अतः यज्ञ सर्वजनहितकारी होता है, क्योंकि यह पशु आदि जिन्हें हिंसनीय माना जाता है, उनके लिए भी कल्याणकारी ही है।** पर ऐसा क्यों? मनु का प्रमाण कहते है -

जड़ी-बूटियाँ, पशु, वृक्ष, पशु-पक्षी यज्ञ के निमित्त मृत्यु तक पहुँचते हुए उन्नति प्राप्त करते हैं।(५.४०)

अन्य व्याख्या- *अध्वर"* शब्द **षष्ठी-तत्पुरुष बहुव्रीहि** समास से बना है, जिसका अर्थ है— **"जिसमें हिंसा (ध्वर) नहीं होती, वही अध्वर है।"**

इसका एक और अर्थ यह भी हो सकता है कि **"राक्षसों द्वारा बाधित न किया गया यज्ञ ही अध्वर कहलाता है।"**

स्कन्द स्वामी निरुक्त भाष्य में लिखते है – '**अध्वर इति यज्ञनाम** (निघ०३.१७) इति। **ध्वरतिहिंसाकर्मा** (निघ०२.१९)। तत्प्रतिषेध इति निर्वचनम्। अविद्यामानो ध्वरो हिंसा यस्मिन् सोऽध्वरः। यज्ञे हि या पशोहिंसा साऽनुग्रह एव न हिंसेत्येतत् 'आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयते' (निरु० १.१६) इत्यत्र वक्ष्यामः

=(यज्ञे हि...) यज्ञ में जो पशु-हिंसा ——की जाती है, वह वास्तव में अनुग्रह (कृपा) ही होती है, न कि हिंसा। इस विषय को हम(स्कन्द स्वामी) **'आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयते'** (निरुक्त 1.16) में विस्तार से समझाएंगे।

निरुक्त १.१६ के विषय में दुर्गाचार्य का मत उपर दिया है स्कन्द स्वामी का भी इसी के समान है।

शास्त्रों में पशुबंध(पशु बलि)

1. कुत्ते की बलि

Āpastamba Śrauta Sūtra - 20/3

तं बधान देवेभ्यो मेधाय प्रजापतये तेन राध्नुहीति प्रत्याह ॥४॥ अभिधा असीत्यश्वमभिदधाति ॥५॥ आनयन्ति श्वानं चतुरक्षं विष्वग्बन्धेन बद्धम् ॥६॥

पितुरनुजायाः पुत्रः पुरस्तान्नयति। मातुरनुजायाः पुत्रः पश्चात्॥ ७॥

4. (The Brahman) replies tai badhäna devebhyah....

5. With abhidhā asi... (the Adhvaryu) binds the horse (with the string).

6-7. They bring a four-eyed dog bound with a string the ends of which can be held on both the sides. The son of the younger sister of the father leads it from the front; the son of the younger sister of the mother (holds) it from behind.'

सैकं मुसलम् ॥८॥ पौंश्चयः पेशसा जानु वेष्टयित्वा पश्चादन्वेति ॥९॥ अपो ऽश्वमभ्यवगाहयन्ति श्वानं च ॥ १० ॥ यत्र शुनो प्रतिष्ठा तदध्वर्युः प्रसौति जहीति ॥ ११ ॥

8-9. (There should be) a pestle of Sidhraka (-wood). The son of a whore having covered the (left) knie with a cloth (pesasā) follows it (the dog). 1

10. They cause the horse and the dog enter into the water.

11. (When they go upto such a depth) as the dog cannot stand firmly (in water) the Adhvaryu orders, “Kill (the dog)

यो अर्वन्तमिति सैध्रकेण मुसलेन पौंश्चलेयः शुनः प्रहन्ति ॥ १२ ॥ तमश्वस्याधस्पदमुपास्यति परो मर्तः पर श्वेति ॥ १३ ॥
दक्षिणापप्लाव्याहं च त्वं च वृत्रहन्निति ब्रह्मा यजमानस्य हस्तं गृह्णाति ॥१४॥ अभि क्रत्वेन्द्र भूरधज्मन्नित्यध्वर्युर्यजमानं वाचयति ॥१५॥

12. The son of whore (then) kills the dog by means of the pestle of Sidhraka with yo arvantam.....

13. (The Adhvaryu) throws the (dead body of the dog) below the feet of the horse with paro martaḥ paraḥ śvá.

14. After (the dead body of the dog) has been floated' (in the water) towards south (of the horse), the Brahman holds the hand of the sacrificer 2 with aham ca tvam ca... 3

15. Then the Adhvaryu makes the sacrificer recite, abhi kratvendra.....

आहरन्त्यैषीकमुदूहं वरत्रया विबद्धम् ॥ १६ ॥ तस्मिन्नार्द्रा वेतसशाखोपसंबद्धा भवति ॥ १७ ॥ तं द्वे शते दक्षिणतो धारयतः । द्वे उत्तरतः ॥ १८ ॥ तेनाश्वं पुरस्तात्प्रत्यञ्चमभ्युदूहन्ति ॥ १९ ॥

16. (The assistants) bring a reed-broom to which a thong is tied.'

17. To it a wet reed-branch is tied.'

18. Two hundred men hold it (reed-broom) from the south and the two hundred men from the north.1

19. By means of it (reed-broom) they move the horse from the front to the back.

विश्लेषण:

- **श्लोक 6-7:** एक चार-आंखों वाला कुत्ता लाया जाता है और एक रस्सी से बांधा जाता है।
- **श्लोक 10:** *अश्व (घोड़े) और कुत्ते को पानी में डुबोया जाता है।*
- **श्लोक 11:** जब कुत्ता पानी में ठीक से खड़ा नहीं रह पाता, तब *अध्वर्यु (यज्ञ कराने वाला पुरोहित) उसे मारने का आदेश देता* है – "जहीति" (मारो)।

- **श्लोक 12:** फिर एक व्यक्ति *(जिसे 'पौंश्चलेय' कहा गया है, यानी वेश्या का पुत्र)* एक विशेष लकड़ी के मुसल (गांडा) से कुत्ते को मारता है।
- **श्लोक 13:** मृत कुत्ते को घोड़े के पैरों के नीचे फेंक दिया जाता है।
- **श्लोक 14:** फिर मृत कुत्ते के शरीर को दक्षिण दिशा की ओर बहा दिया जाता है।

यह स्पष्ट रूप से **यज्ञ में कुत्ते की बलि का वर्णन** करता है।

श्रुति, स्मृति, इतिहास कुत्ते की मांस तब तक खाने को अनुमति देती है जब उसका प्राण संकट में पड़ता है

ऋग्वेद संहिता 4.18.13 प्राण संकट में पडने के कारण कुत्ते की आंतो को पकाकर खा लिया

मनुस्मृति 10.106-108 ऋषि वामदेव और ऋषि विश्वामित्र ने भूख से पीड़ित होकर कुत्ते को पका कर खाया था

वही चीज़ इतिहास में भी मिलती है महाभारत शांति पर्व 141/142 महर्षि विश्वामित्र ने चांडाल से कुत्ते का मांस लेकर आये और देवताओ की बलि चढ़ाकर खाये

बकरे की बलि

यदेकेंन सस्थापयति यज्ञस्य संतत्या अविच्छेदायैन्द्राः पशवो ये मुष्करा यदैन्द्राः सन्तोऽग्निभ्य आलभ्यन्ते देवताभ्यः समदं दधात्याग्नेयीस्त्रिष्टुभो याज्यानुवाक्याःकुर्याद्यदाग्नेयीस्तेनाग्नेया यत्त्रिष्टुभस्तेनैन्द्राः समृद्ध्यै न देवताभ्यः समदं दधाति वायवे नियुत्वते तूपरमा लभते तेजोऽग्नेर्वायुस्तेजस एष आ लभ्यते तस्माद्यद्रियङ्वायुः - taittriya samhita 5.5.1

अर्थ:- जब वह एक से स्थापित करता है, तो यज्ञ की निरंतरता और अविच्छेदता के लिए। **इंद्र के पशु वे हैं जो अंडकोष वाले हैं।** जब इंद्र के होते हुए भी अग्नि के लिए ग्रहण किए जाते हैं, तो वह देवताओं के लिए समानता स्थापित करता है। आग्नेय त्रिष्टुभ छंद में याज्या और अनुवाक्या मंत्र करने चाहिए। जो आग्नेय है, उससे वह अग्नि से संबंधित है, और जो त्रिष्टुभ है, उससे इंद्र से। समृद्धि के लिए वह देवताओं के बीच समानता नहीं रखता। **वह नियुत्वान वायु के लिए तूपर (बकरा) पशु का बलिदान करता है।** वायु अग्नि का तेज है, इस तेज के लिए यह बलिदान किया जाता है।

यजुर्वेद 21.43
होता यक्षदश्विनौ छागस्य हविष' इस वेद मन्त्र के भाष्य में उवट ने लिखा है-"अश्विनौ छागस्य छागाङ्गस्य तावश्विनौ छागसंबन्धिनः हविषः अत्ताम्"= अश्विनीकुमार इस बकरे से संबंधित आहुति को ग्रहण करें।.... "मध्यतो मेद उद्धृतम् उदरमध्यतो वपालक्षणं मेदः उद्धृतम्"= मेद (चरबी) को उदर (पेट) के मध्य से निकाला गया। ..... ''**एतद्वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्**' इति श्रुतेः'=श्रुति कहती है कि "मांस ही सर्वोच्च भोजन है।".....

वेद मन्त्र से ही स्पष्ट बलि सिद्ध होती है **"अद्य छागस्य हविषः आत्ताम्**=आज बकडे की हवी को प्राप्त करे।

दयानंद ने अपना मनमाना अर्थ किया है।

- दयानंद ने '**अश्वि**' का अर्थ **"अश्विनौ**= अध्यापकोपदेशकौ' किया है **'अश्वि'** शब्द से गुरु या उपदेशक ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है।
- दयानंद ने 'गृभ' का अर्थ किया **'गृभः= ग्रहीतुं योग्यायाः'** यह अर्थ भी गलत है। गृभ' शब्द से ग्रहण किस प्रकार संभव है? ("गृभात् =गृहात् – देखे ऋग० ७.२१.२)
- **"पौरुषेय्याः"** का अर्थ **"पुरुषाणां समूहे साध्व्यः"** दिया गया। इसमे स्त्री की बात कहा से आ गई? "पौरुषेय्याः" का अर्थ "पुरुषों से संबंधित" या "पुरुषों के लिए उपयुक्त" होना चाहिए। (यथा महिधर- पौरुषेय्याः पुरुषार्थमियं पौरुषेयी ऋत्विगर्था तस्याः)

आर्य समाजी निरुक्त निरुक्त चिल्लाते रहते है लेकिन इस मन्त्र में समाजियों के आखिरी ऋषि दयानंद ने निरुक्त की उपेक्षा करके स्वयं का ही अर्थ कर दिया। इसका कारण है की यास्क ने भी बकड़े के अंग काटने के तरीको का वर्णन कर रखा है।

योनिः शितामेति शाकपूणिः । विषितो भवति । श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः । श्यामं श्यायतेः । यकृद् यथा कथा च कृत्यते। शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः – निरुक्त ४/३

अर्थ- शाकपूणि मानता है, शिताम योनि है। व्याप्त होता है अर्थात् जिगर से, यह तैटीकि (मानता है) श्याम, श्यैङ् (गतौ, भ्वा० आ) से है। यकृत = जैसे कैसे काटी जाती है (नर्म होने से आसानी से काटी जाती है)। शितामत: =श्वेत मांस= चर्बी से, यह गालव मानता है।

ऋग्वेद – 10.27.17 ।

पीवानं = मोटा ताजा (चर्बीदार)

मेषम् = बकरा

अपचन्त = पकाया

पीवानं मेषमपचन्त वीरा न्युप्ता अक्षा अनु दीव आसन्. द्वा धनुं बृहतीमप्स्व१न्तः पवित्रवन्ता चरतः पुनन्ता.. (rig. 10/27/17)

प्रजापति के पुत्र अंगिरा आदि ऋषियों ने मोटे बकरे को पकाया. जुआ खेलने के स्थान में देवों के पासे फेंके गए. इन अंगिराओं में से दो धन के समान प्रसन्नता देने वाले कपिल को लेकर मंत्र उच्चारण के साथ अपने शरीर को शुद्ध करने के लिए जल में घूमने लगे. (१७)

"पीवानं स्थूलम्। मेदोमांसादियुक्तमित्यर्थः। "मेषम् अजम् "अपचन्त प्रजापतिरूपस्येन्द्रस्यार्थाय पक्ववन्तोऽभवन्। पशुयागं कुर्वन्त इत्यर्थः(सायन) =" पीवानं =मोटा इसका अर्थ है कि यह वसा, मांस आदि से युक्त है। 'भेड़ और बकरी' को पकाया गया। प्रजापति रूपी इंद्र के उद्देश्य से पकाने वाले बने। इसका अर्थ है कि उन्होंने पशुयज्ञ किया।"

अथर्वेद ४.१४ में बकरे काटने की विधि

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे. तेन देवा देवतामग्र आयन् तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः.. (१)

बकरा अग्नि के ताप से उत्पन्न हुआ था. उस ने सभी पशुओं की सृष्टि करने वाले प्रजापति को सब से पहले देखा. सृष्टि के आदि में इंद्र आदि देव उसी बकरे के कारण देवत्व को प्राप्त हुए. उसी बकरे को साधन बना कर अन्य ऋषि भी स्वर्ग आदि लोकों में पहुंचे. (१)

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी. यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे.. (४)

यज्ञ के फल से प्राप्त होने वाले स्वर्ग को जाने वाले लोग पुत्र, पशु आदि संबंधी सुख की इच्छा नहीं करते हैं. जो यजमान विश्व को धारण करने वाले यज्ञ को भलीभांति जानते हुए उस का विस्तार करते हैं, वे स्वर्ग को जाते हैं. (४)

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम्. तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम्.. (६)

द्युलोक के योग्य एवं यजमान को स्वर्ग में पहुंचाने वाले बकरे को मैं रसयुक्त घी से चुपड़ता हूं. इस प्रकार के बकरे की सहायता से पुण्य के फल के रूप में मिलने वाले स्वर्गलोक को जाएं तथा दुःख के स्पर्श से शून्य हो कर उत्तम सूर्य ज्योति को प्राप्त करें. (६)

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्याद्धर पञ्चधैतमोदनम्. प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम्..(७)

हे पाचक! पांच भागों में कटे हुए इस बकरे को अपनी पांच उंगलियों की सहायता से पकड़ी हुई कलछी के सहारे बटलोई से निकाल कर कुशों पर रखो. पांच भागों में विभाजित इस बकरे के पके हुए सिर को पूर्व दिशा में रखो तथा इस के शरीर के दाएं भाग को दक्षिण दिशा में स्थापित करो. (७)

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्. ऊर्ध्वायां दिश्य१जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य.. (८)

इस बकरे की कमर के पके हुए मांस को पश्चिम दिशा में तथा इस के बाएं भाग के मांस को उत्तर दिशा में रखो. इस की पीठ के मांस को ऊपर की दिशा में तथा पेट के मांस को नीचे की दिशा में रखो. इस के शरीर के मध्यवर्ती मांस को आकाश में स्थापित करो. (८)

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः सम्भृतं विश्वरूपम्.सं उत् तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु.. (९)

अपने सभी अंगों से पूर्ण बने बकरे को सभी दिशाओं में व्याप्त करो. हे बकरे ! तुम इस लीक से चारों पैरों के द्वारा स्वर्गलोक में चढ़ते हुए चारों दिशाओं को व्याप्त करो. (९)

घोड़े की बलि

शामित्रे तु हयस्तत्र तथा जलचराश्च ये। ऋत्विग्भिः सर्वमेवैतन्नियुक्तं शास्त्रतस्तदा॥ २९ ॥ पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तथा। अश्वरत्नोत्तमं तस्य राज्ञो दशरथस्य च॥ ३० ॥

ऋत्विजों ने घोड़े और जलचर जन्तु कच्छप आदि शास्त्ररीति से यथास्थान बाँधे॥ २६ ॥ उन खंभों में तीन सौ पशु और प्रत्येक दिशा में घूम कर आया हुआ महाराज का अति उत्तम घोड़ा बाँधा गया॥ ३० ॥

कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः । कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा॥ ३१ ॥ पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा । अवसद्रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया॥ ३२ ॥

कौशल्या जी ने उस घोड़े की अच्छी तरह पूजा की और प्रसन्न हो, तीन तलवारों से उस घोड़े के टुकड़े किये ॥ ३१ ॥ फिर धर्मसिद्धि की कामना से कौशल्या जी उस (मृत) अश्व की रक्षा करने को एक रात, शवस्पर्श की घृणा रहित मन से उसके पास रहीं ॥ ३२ ॥

होताध्वर्युस्तथोद्गाता हस्तेन समयोजयन् ।महिष्या परिवृत्त्या च वावातामपरां तथा ॥ ३३ पतत्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः । ऋत्विक्परमसंपन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ॥ ३४ ॥

फिर होता, अध्वर्यु और उद्गाताओं ने कौशल्या जी को, परिवृति को तथा बावाता(राजा की प्रिय पत्नी, जिसको दर्जा महिषी-कौशल्या से नीचे होता था) को अश्व के साथ नियोजित किया ॥ ३३ **॥जितेन्द्रिय ऋत्विजों ने उस घोड़े की चर्बी ले यथाविधि अग्नि पर चढ़ा उसे पकाया** ॥ ३४ ॥

धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः । यथाकालं यथान्यायं निर्णदन्पापमात्मनः ॥ ३५ ॥ हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः । अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत्समन्त्राः षोडशत्विजः ॥३६॥

महाराज दशरथ होमकाल में चर्बी के पकाने पर निकली हुई गन्धि को शास्त्र की विधि के अनुसार सूंघ सूंघ कर, अपने पापों को नष्ट करने लगे ॥ ३५ ॥ सोलह ऋत्विज उस घोड़े के अंग काट काट कर विधिवत् अग्नि में हवन करने लगे ॥ ३६ ॥

प्लक्षशाखासु यज्ञानामन्येषां क्रियते हविः । अश्वमेधस्य चैकस्य वैतसा भाग इष्यते ॥ ३७ ॥

अन्य यज्ञों में पाकर को लकड़ी से हवि की आहुति दी जातो है, किन्तु ध्पकेले अश्वमेध ही में यह काम वेत से लिया जाता है ॥ ३७ ॥

व्यहोऽश्वमेधः संख्यातः कल्पसूत्रेण ब्राह्मणैः । चतुष्टोममहस्तस्य प्रथमं परिकल्पितम् ॥ ३८ ॥ उक्थ्यं द्वितीयं संख्यातमतिरात्रं तथोत्तरम् । कारितास्तत्र बहवो विहिताः शास्त्रदर्शनात् ॥ ३९ ॥

कल्पसूत्र और ब्राह्मण भाग ने, अश्वमेध यज्ञ में तीन दिन सवन्-क्रिया करने के बतलाये हैं। उनमें प्रथम दिन अग्निष्टोम दिन है, दूसरा उक्थ, तीसरा अतिरात्रि- सो ये भी शास्त्र-विधि के अनुसार तथा अन्य बहुत से विधान किये गये ॥ ३८ ॥ ३६ ॥

Valmiki Ramayana Bala Kand, sarga 14, Chaturvedi Dwaraka Prasad Sharma 1927

वाल्मीकि रामायण में यहाँ पर स्पष्ट रूप से कौशल्या के द्वारा घोड़े की हत्या करने का वर्णन प्राप्त होता है, यहाँ अश्वमेध का प्रकरण है। यह चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा द्वारा किया गया अनुवाद है। जो कि एक प्राचीन अनुवाद है। गीताप्रेस ने अपने मन से इसको बदलने का प्रयास किया है। गीता प्रेस ने "कौसल्या तं हयं तत्र....३३ का अनुवाद करते हुए लिखा है – "रानी कौसल्याने वहाँ प्रोक्षण आदि के द्वारा सब ओर से उस अश्व का संस्कार करके बड़ी प्रसन्नताके साथ तीन **तलवारों से उसका स्पर्श** किया" विचार किया जाये तो तलवार से घोड़े को स्पर्श करने में कुछ अर्थ समझ नहीं आता। गीता प्रेस अनुवादक रामनारायणदत्त शास्त्री ने यहाँ लिपा पोती करने का प्रयास किया है। इस श्लोक का अर्थ द्वारका प्रसाद ने किया - **कौशल्या जी ने उस घोड़े की अच्छी तरह पूजा की और प्रसन्न हो, तीन तलवारों से उस घोड़े के टुकड़े किये"** अर्थात तलवार से घोड़े की हत्या की। अश्वमेथ यज्ञ के प्रकरण में यह अर्थ एकदम फिट बैठ जाता है। श्लोक से भी यही अर्थ प्रकाशित होता है- "कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः । कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा" इसमे "विशशास" शब्द आया है जिसके अर्थ पर विचार करना चाहिय

“विशशास” शब्द **‘शसुँ हिंसायाम्’** इस धातु से बना है। जिसका अर्थ है **‘हिंसा करना’ ‘मारना’ ।** यह धातु कर्तरि लिट्लकारः (परस्मैपदम्) , प्रथमपुरुषः , एकवचनम् में **‘शशास’** बनता है फिर **‘वि’** उपसर्ग लगा कर **‘विशशास’** यह शब्द बनता है। जिसका अर्थ **"उसने हत्या की"** या **"उसने वध किया"**। होता है। गीता प्रेस ने श्लोक ३६ में आए “वपाम्” शब्द का अर्थ अश्वकंद का गुदा किया है। जब बलि घोड़े की हुई तो ये कौन सा फल का गुदा बिच में आ गया **“वपाम्”** का अर्थ चर्बी होता है। उस श्लोक में **‘घोड़े की चर्बी’** को अग्नि में पकाने की बात चल रही है। दूसरी बात ये है की कल्पसूत्र और ब्राह्मण भाग के अनुसार सभी विधान किये गए है ऐसा रामायण में लिखा है। कल्पसूत्र में पशुबलि के स्पष्ट प्रमाण है। जो आप आगे विस्तार से देखेंगे

शतपथ 13.2.2.16:- अश्वमेध में घोड़े के भिन्न भिन्न अंगों को काटने के लिए भिन्न भिन्न धातुओं के छूरों का विधान -

“घोड़े का शास (छुरा) सोने का होता है।(The slaughtering-knife of the horse is made of gold,) परि अंगों का तांबे का। औरों का लोहे का। सोना ज्योति है। अश्वमेव राष्ट्र है। इस प्रकार राष्ट्र में ज्योति रखता है। इस सोने की ज्योति से यजमान स्वर्गलोक को जाता है। स्वर्गलोक को जाने के लिये यह (अन्काश) या मशाल का काम देता है।;

महाभारत, आश्वमेधिक पर्व - 89। अश्वमेध में घोड़ा पकाया जा रहा है, युधिष्ठिर उसकी पकी हुई चर्बी सूंघ रहे हैं, जिसे सूंघ के उनके पाप नष्ट हो गये, अन्त में व्यास जी घोड़ा पकने के बाद बधाई दे रहे हैं। ये यज्ञ कृष्ण व व्यास की अगुवाई में हुआ था। क्रिटिकल एडीशन में भी है।

महाभारत अश्वमेधिक पर्व में भीम ने घोड़े की बलि दी है।

महाभारत शल्य पर्व ४१ :- पशु की बलि

महाभारत,anushasan parv,chapter 88 श्राद्ध में पितरो को मांस देकर संतुष्ट करना

एष छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः. अभिप्रियं यत्पुरोळाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति .. (rig 1.162.३)

समस्त देवों के लिए उपयोगी, पर पूषा का अंश वह बकरा शीघ्र गतिशाली अश्व के सामने लाया जाता है. घोड़े के साथ इस बकरे को प्रयोग करके त्वष्टा देव के लिए स्वादिष्ट भोजन रूप पुरोडाश बनाया जाए. (३)

याज्ञिक पदार्थ विशेष को पुरोडाश कहा जाता है। पुरोडाश में मांस का भी प्रयोग किया जाता है **“पशुर्ह वा एष आलभ्यते यत्पुरोडाशः** शतपथब्राह्मणम् १.२.३.५ =पुरोडाश यज्ञ में पशु का आलभन है।; वेद मंत्र के संदर्भ अनुसार यह अर्थ उचित है।

अश्वमेध यज्ञ में क्या क्या होता है उसको Shatpath brahman 13.5.2 में विस्तार से बताया गया है।

पशु/ गौ अथवा भैंसे की बलि

सिन्धुघाटी सभ्यता के समय की यह दो सील हैं, जो हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुई। **हड़प्पा से प्राप्त हुई सील में किसी देवता अथवा किसी योगी के समक्ष भैंसे की बलि को दर्शाया गया है**, इस देवता या योगी को ही पशुपति या शिव भी होने का दावा किया जाता **है। दूसरी सील में ऐसे ही किसी देवता या योगी के समक्ष सात लोग खड़े हैं और छोटी सी मेज़ पर किसी मनुष्य का कटा सिर भी रखा हुआ है और एक मेढ़ा भी है। इस सबसे पता चलता है कि सिन्धु सभ्यता के लोग पशुबलि और नरबलि किया करते थे**, भारत में बलिप्रथा का इतिहास बहुत पुराना है। पशुबलि इनकी सभ्यता में इतनी महत्वपूर्ण थी की उसको सील में भी अंकित किया गया। इस सबके अलावा सिन्धु सभ्यता के उत्खनन में मिले अवशेषों से यह भी पता चलता है कि वे लोग मांसभक्षी थे।

शतपथ में गौ भेड बकरे मनुष्य आदि की बलि शतपथ ब्राह्मण दूसरी पञ्चिका -1.2.3

[पशु-इष्टि में] जो पुरोडाश होता है वह [पशु शरीर के सादृश्य के कारण पुरोडाश से अनुष्ठित यह पश्चालम्भन हो होता है। उस व्रीहि का जो [किशारू अर्थात्] भूसा है वे पशु के लोम स्थानीय हैं। जो तुष [प्रथम अवघात से निकला चावल का वेष्टन रूप भूसी] है वे पशु के त्वचा-स्थानीय हैं, जो फलीकरण [तण्डुल को श्वेत करने के लिए जो अवघात से निकला हेयांश] है वह पशु का रुधिर स्थानीय है। जो पिसा अवयव है और किनकी है वह पशु का मांस स्थानीय है और जो कुछ भी बचा हुआ वीहि का कठोर भाग है वह पशु की अस्थि रूप है। जो पुरोडाश से यजन करता है वह मानो सब पशुओं के मांस रूप मेध से यजन करता है।

क्योंकि पुरोडाश-याग सब पशु का सार है। अतः याज्ञिक कहते हैं कि पुरोडाश का सत्र [= अनुष्ठान] करना चाहिए।

उस बकरे में यज्ञ योग्य भाग बहुत दिनों तक रहा। अतः [चिरकाल तक रहने के कारण] जो यह अज है वह इन [पूर्वोक्त] पशुओं के मध्य अत्यन्त प्रयुक्त हुआ। **उन्होंने अज का आलम्भन किया।** किन्तु उस आलम्भित अज से वह निकल गया और वह पृथ्वी में प्रविष्ट हो गया। इसीलिए पृथ्वी मेध्य हुई। तब उस उत्क्रान्त मेध वाले अज को उन देवों ने तिरस्कृत कर दिया। वह शरभ [आठ पैरों वाला सिंह का घातक पशु विशेष हो गया। उत्क्रान्त-मेध वाले [मनुष्य, अश्व, गो, अवि और अज] वे ये [किंपुरुष आदि] पशु [मेधविहीन होने के कारण यज्ञ के योग्य नहीं थे। अतः इन पशुओं का मांस नहीं खाना चाहिए। इस [पृथ्वी] में प्रविष्ट उस मेध को पाने के लिए देवों ने अनुगमन किया। देवों से पिछा किया गया वह [भागने में असमर्थ हो सहसा व्रीहि [= धान] हो गया। जब उस पश्चालम्भन के पश्चात् पुरोडाश का निर्वपन

करते हैं तब हमें यज्ञ योग्य हविभाग से युक्त पशु ही इष्ट होता है। इस प्रकार [पुरोडाश निर्वाप का अभिप्राय है] हम लोगों को साधनान्तर की निरपेक्षा से मेधपूर्ण पशु इष्ट होवे।

प्राचीन काल में देवों ने अपने यज्ञ में मनुष्य को पशु बनाकर आलम्भन किया। किन्तु उस आलम्भित [मनुष्य पशु] से मेध अर्थात् यज्ञ के योग्य हवि:भाग निकल गया और वह अश्व में प्रविष्ट हो गया। इसीलिए अश्व यज्ञ के योग्य हुआ। तब निकले हुए हवि:भाग वाले इस मनुष्य को देवों ने [यज्ञ पशु बनाने के लिए] अत्यन्त तिरस्कृत कर दिया। वह [देवों के द्वारा स्वीकृत किन्तु परित्यक्त मनुष्य ही] किंपुरुष अर्थात् किन्नर हो गए। **उन्होंने अश्व का आलम्भन किया। किन्तु उस आलम्भित अश्व से यज्ञ योग्य हवि:भाग निकल गया और वह गाय में प्रविष्ट हो गया। इसीलिए गाय यज्ञ योग्य हुई।** तब निकले हुए हविभाग वाले इस [अश्व] को देवों ने अयोग्य जानकर उसे भी तिरस्कृत कर दिया। वह [देवों से पहले स्वीकृत किन्तु बाद में परित्यक्त] गौरमृग [= नीलगाय] हो गई।

यज्ञ में अर्पित बैल खाने के योग्य:-

मेध्यमानडुहमिति वाजसनेयकम् ॥ ३१ ॥ *आपस्तम्बधर्मसूत्र 1/5/17/30-31*

'अनुडहो मांसं न केवलं भक्ष्यम्, किं तर्हि ? मेध्यमपीति वाजसनेयिनः समामनन्ति ॥ ३१ ॥

अनु० - वाजसनेयक के अनुसार बैल का मांस यज्ञ में अर्पित करने योग्य मो होता है ॥ ३१ ॥

शतपथ ब्राह्मण(-१३/६/२/१६ ।) में ११ बाँझ गाय की बलि लिखी है।

ऐतरेय ब्राह्मण २/२/१ में पशुबलि -

जहाँ पशु मारा जाने वाला है वहाँ अध्वर्यु दर्भ छोड़ देता है। जब आत्री मंत्र पढ़कर और अग्नि को चारों ओर फिरा कर, पशुको वेदी के बाहर लाते हैं तो दर्भों पर बिठा देते हैं। उसके मलमूत्र के लिये गड्ढा खोदते हैं। मलमूत्र वनस्पति से सम्बन्ध रखते हैं। वनस्पति का उपयुक्त स्थान भूमि है। इस प्रकार वह इनको उपयुक्त स्थान में रखते हैं। इस पर आक्षेप होता है कि जब समस्त पशु हवि है और जब उसके बहुत से. भाग जैसे, रोम, त्वचा, रुधिर, अधपंचा खाना, खुर, सींग गिर पड़ते हैं तो • यह कमी कैसे पूरी की जाती है। इसका उत्तर यह है कि यदि पशु के साथ पूरा पूरा पुरोडाश भी आहुति में दिया जाय तो वह कभी पूरी हो जाती है। जब पशुओं में से मेघ निकल गया तब चावल और जौ उत्पन्न हुये। जव पशु के साथ पूरा-पूरा भाग करके पुरोडाश डालते हैं तो समझते हैं कि पशु को मेध के साथ बहुत किया। पूरा पशु आहुत किया।" जो इस रहस्य को समझता है उसका पशु पूरा पूरा आहुत होता है। उसकी वपा(चर्बी=fat) को निकाल कर (भूनने के लिये) लाते हैं। अध्वर्युस्रवा से घी टपकाता है और जब बूँदें टपकती हैं तो कहता है, "इसके योग्यं मंत्र पढ़ो।" बूँदें सभी देवतों की होती हैं। शायद वह सोचे कि यह मेरे नहीं हैं।;

मीमांसा दर्शन ३/६/१८-२०

ये मैत्रायणी संहिता - ३/९/५ से (पशु अग्निष्टोम आलभ्य)अग्निष्टोम यज्ञ में अनेक देवों के लिए पशुओं के "आलभन" का और उसी के साथ वपादि अंगों के हवन का उल्लेख किया गया है।

युधिष्ठिर मीमांसक जी ने मीमांसा सूत्र - ३/६/१८-२० के शबरभाष्य के अनुवाद में इसका उल्लेख व अनुवाद किया हुआ है। इस प्रकरण में युधिष्ठिर जी ने भी माना है जैमिनि, शबर व ब्राह्मण ग्रन्थों ने पशुबलि का विधान किया हुआ है (18वें सूत्र पर उनकी टिप्पणी देखें, हालांकि इन सबको धृष्टता दिखाते हुए निराधार रूप से मिलावट भी बोल दिया युधिष्ठिर जी ने, पर चलो इनमें बलि को स्वीकार तो किया), शबर ने ही भाष्य में मैत्रायणी संहिता के ये वचन उद्धृत किये हैं।

मैत्रायणी संहिता के वचन का अनुवाद युधिष्ठिर जी द्वारा दिया हुआ है कि **"प्रात: सवन में वपा यानि चर्बी का हवन करें और माध्यन्दिन सवन में पशु के बाकि अंगों से"**। तो **"आलभन"** का अर्थ बलि ही हुआ सन्दर्भ अनुसार। क्योंकि चर्बी तो बलि करके ही निकलेगी। इसलिए आलभन का अर्थ होता है देवताओं को पशु का "प्राप्त होना" यानि बलि होना, मरने पर ही तो प्राप्त होगा, तभी फिर चर्बी निकलेगी।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 23/12 :- पुरोडाश पशु को मारकर उसके मांस से बनता है।

स यान्मृगान्हन्ति तेषां तरसाः पुरोडाशा भवन्ति ॥ १३ ॥

अर्थ- जो पशु वह मारता है, उनके मांस का उपयोग यज्ञीय अन्न के रूप में किया जाना चाहिए।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 7/22/9 :- अच्छे से पशु का हृदय सहित एक एक अंग काट के भूनना है ~ आपस्तम्ब ऋषि ।

उदक् पवित्रे कुम्भ्यां पशुमवधाय शूले प्रणीक्ष्य हृदयं शमित्रे श्रपयति ॥९॥

अर्थ- (पशु के अंगों को) घड़े में रखकर, उस पर उत्तर दिशा की ओर मुख करके छलनी रखी जाती है, तथा हृदय को छेदकर उसे समित्रा (अग्नि) पर पकाता है।

पशु(गाय) की बलि apastamb griha-sutra 8.22.1-10

5. (वह) उबले हुए चावल को गाय के मांस के साथ अगले (श्लोक, II, 20, 29-35) के साथ बलिदान करता है,

6. अगले भोजन से तैयार भोजन (श्लोक, II, 21, 1),

7. फिर अगले (मंत्र, II, 21, 2-9) द्वारा संकेतित आज्य आहुतियाँ।

8. स्विष्टकृत से लेकर पिण्डदान तक के कर्मकाण्ड वही हैं (जैसे श्राद्ध के) ।

9. कुछ (शिक्षक) अष्टक के अगले दिन पिंडदान करने का विधान बताते हैं।

10. यहाँ अष्टक यज्ञ का दूसरा तरीका बताया गया है। वह अपने दोनों हाथों से दही की उसी प्रकार आहुति देता है, जिस प्रकार केक की आहुति दी जाती है।

11. (गाय के मांस में से, ऊपर देखें, 3. 4) जितना आवश्यक हो उतना बचा रहने पर, अगले दिन (अष्टक के) अन्वष्टक संस्कार करता है।

12. इस संस्कार को मासिक श्राद्ध के विवरण में समझाया गया है।

13. यदि वह कुछ मांगने बाहर जाता है, उसे अगला मंत्र (द्वितीय, 21, 10-16) बुदबुदाने दें और फिर अपनी इच्छा बताएं।

14. यदि उसने रथ प्राप्त कर लिया है, तो वह उसमें घोड़े जोड़ता है, उसका मुंह पूर्व दिशा की ओर कर देता है, और अगले (श्लोक, II, 21, 17) से रथ के दो पहियों या दोनों पार्श्वों को छू देता है।

ऋग्वेद - १/१६२/१२ । ऋषियों को मांस की तलब

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरति.

ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु .. (१२)

अर्थ- जो लोग घोड़े के अवयवों को पकता हुआ चारों ओर से देखते हैं एवं इस प्रकार कहते हैं— **"मांस बड़ा सुगंधित है, थोड़ा हमें भी दो."** जो लोग घोड़े के मांस की भीख मांगते हैं, उनकी अभिलाषाएं हमें प्राप्त हों. (१२)

यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि.

ऊष्मण्यापिधाना चरूणामङ्काः सूनाः परिभूषन्त्यश्वम्.. (१३)

अर्थ- मांस पकाने वाले पात्र से रस लेकर जिस पात्र द्वारा परीक्षा की जाती है, जो पात्र उबले हुए मांस का रस सुरक्षित रखते हैं, जो पात्र भाप रोकने एवं मांस से भरे पात्र को ढकने के काम में लाए जाते हैं, वे वेतस की शाखाएं, जिनसे अश्व के हृदय आदि भागों पर निशान लगाते हैं, एक छुरी जिससे चिह्नों के अनुसार मांस काटा जाता है, ये सब अश्व को सुशोभित करते हैं. (१३)

दयानंद भाष्य में दोष

- **वाजिनं**: इस शब्द का अर्थ "अन्न" या "भोजन" के रूप में लिया गया है, लेकिन यह शब्द "घोड़े" (वाजिन्) के लिए भी प्रयुक्त होता है। इसलिए, इसका सही अर्थ संदर्भ पर निर्भर करता है। अंगो को पकाने, मांस, हृदय आदि भाग की चर्चा होने से सन्दर्भ सपष्ट है।
- **ईम्**: इस शब्द का अर्थ "जल" के रूप में लिया गया है, लेकिन यह शब्द संदिग्ध है और इसका सही अर्थ स्पष्ट नहीं है।
- **अभिगूर्तिः**: इस शब्द का अर्थ "मेहनत" या "प्रयास" के रूप में लिया गया है, लेकिन यह शब्द असामान्य है और इसका सही अर्थ स्पष्ट नहीं है।

कुमारिल्ल भट्ट ने पशु बलि का समर्थन किया

गाय के चमड़े पर बैठकर के सोमरस तैयार करो

यह है निरुक्त 2/5, इसमें कहा गया है कि गाय के चमड़े पर बैठकर के सोमरस तैयार करो, यानि ऋषि लोग ऐसे ही सोमरस निकालते थे, फिर यह भी यह भी कहा गया है कि चमड़ा रथों पर भी मढ़ा जाता है और धनुष की डोरी गाय के तांत यानि चमड़े या नसों की बनाई जाती है।

खादिर गृह सूत्र ३.४ .१-७: गाय की बलि

Tandya maha brahman 21.14.9-19 में बैल की बलि

गोभिल गृह सूत्र ३.१०.१८-३१ तक गाय की बलि का विधान है-

- **गाय के अंग धोना**: यजमान की पत्नी गाय के नेत्र और इंद्रियों को धोती है।
- **गाय का वपा निकालना**: नाभि के पास से कटाई कर वपा (आंतरिक वसा) को निकाला जाता है।
- **धर्मिक मंत्र**: विभिन्न मंत्रों का उच्चारण किया जाता है जैसे कि 'परिवाजपतिः कविः'।
- **अग्नि प्रदक्षिणा**: जले हुए खर से गाय की प्रदक्षिणा की जाती है और उसे जल दिया जाता है।
- **गाय का नाभि काटना**: गाय के नाभि के पास काट कर वसा निकाला जाता है और उसे जल से धोकर सिद्ध किया जाता है।
- **अग्नि में होम**: गाय की वपा को घी के साथ अग्नि में होम किया जाता है।

आपस्तम्ब गृहसूत्र में गाय की बलि - Apastamba Grihya Sutra [Vedanga] 8.22.1 to 8.22.10,

ऋग्वेद में इंद्र के लिए सौ भैंस पकाए गए

गौ मांस खाने पर मनुष्य एक साल तक संतुष्ट रहता है भैंस का मांस खाने पर उससे भी जादा समय तक- ऋषि आपस्तम्ब APASTAMB Dharmsutra 2.7.16.26

शतपथ ब्राह्मण में पशुबलि (दम घोंट के पशु को मारना) —

शतपथ ब्राह्मण 3.8.1-2 के मन्त्रों के हैं (अनुवाद हैं विद्वान गंगाप्रसाद उपाध्यायका, जिन्होंने सायणभाष्य के आधार पर अनुवाद दिया है)।

इसमें पशुबलि का प्रकरण चल रहा है। दसवें मन्त्र में आप देख सकते हैं कि यज्ञ में पशु को इसलिए नही पकड़ा जाता क्योंकि उसमें उसकी मृत्यु होती है, बल्कि इसलिए पकड़ा जाता है क्योंकि उससे यज्ञ होता है (अर्थात् पशु की बलि को मृत्यु बोलना ठीक नहीं, ऐसा हमें मनुस्मृति 5/39 में भी देखने को मिलता है कि "**यज्ञे वधोऽवध**:" यानि यज्ञ में हुआ पशु का 'वध' वध नहीं माना जाता) यानि पशु को मारना तो है, पर उसके मारने को मारना मत बोलो उसे यज्ञ बोलो, आगे और भी शब्द दिये जायेंगे इसके लिए।

आगे 14वें मन्त्र में उसे मारने व बाद में काटने की बात स्पष्ट लिखी है। पहले व दूसरे चित्र में 15वें मन्त्र में इस बात पर चर्चा हो रही है कि मारें किस विधि से? **तो दम घोंट के मारने को उत्तम कहा गया है।** पशु के मारने या मरने को मारना या मरना नहीं बोलना है **"संज्ञपय या अन्वगन्**" बोलना है यानि "शान्त कर दिया या चला गया"। इस 15वें मन्त्र में आप यह भी देख सकते हैं कि यज्ञ में सम्मिलित कुछ लोग आहवनीय की ओर मुंह करके बैठ जाते हैं, पशु को मारते हुए नहीं देख सकते (जाहिर है जिनको पशु को मरते हुए देखने का अभ्यास नहीं है वो नहीं देख पाते)।

फिर 16वें मन्त्र में कहा गया कि बलि के बाद वो पशु स्वर्ग चला जाता है। तीसरे चित्र में देखा जा सकता है कि पशु की वपा यानि चर्बी निकाली जा रही है और उसे पकाया जा रहा है। इस प्रकार पांचवे चित्र में 29वें मन्त्र पर स्पष्ट होता है कि आलभन का अर्थ यज्ञ के पशु के प्रसंग में बलि ही होता है।

गधे की बलि

इस यज्ञ में ब्राह्मण पुरोहित स्वीकार करता है गधे के शिश्न (लिंग penis) को भोजन के रूप में —

यजुर्वेद के **कात्यायन श्रौतसूत्र** 1/1/17 का अंग्रेज़ी अनुवाद दिया गया है जो विद्वान H.G Ranade ने किया है, दूसरे चित्र में इसी का विद्वान गणेश उमाकान्त द्वारा किया हुआ अंग्रेजी अनुवाद है (दोनों अनुवाद Archives org पर उपलब्ध हैं)। तीसरा चित्र पारंपरिक आचार्य कर्क के भाष्यसहित इस सूत्र का है।

सबका यह कहना है कि इस यज्ञ में गधे की बलि होती है, **फिर उसे विभिन्न भागों में काटते हैं, ब्राह्मण पुरोहित को गधे के शिश्न में से दिया जाता है खाने को।** अन्तिम दो चित्रों में विभिन्न प्रामाणिक संस्कृत के कोषों से प्राशित्र का अर्थ बताया गया है।

नर बलि की झलक

शुन:शेप संपूर्ण कथा । ऐतरेय ब्राह्मण - ७/३।

कथा बहुत विस्तृत है, इसीलिए संक्षेप में सुना रहा हूँ। पूरी कथा निर्दिष्ट स्थान पर जाकर पढ़ी जा सकती है।

शुन:शेप की कथा का सारांश

राजा हरिश्चन्द्र को पुत्र नहीं हो रहा था। नारद मुनि ने उन्हें वरुण देवता की पूजा करके संतान प्राप्ति का मार्ग सुझाया। राजा हरिश्चन्द्र ने वरुण देवता से पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ का वचन दिया। पुत्र रोहित का जन्म हुआ, लेकिन हरिश्चन्द्र ने यज्ञ करने में टालमटोल की, जिससे वरुण क्रोधित हो गए और राजा के पेट में सूजन आ गई। रोहित ने यज्ञ से बचने के लिए वन में भाग लिया और वर्षों तक वहां विचरण करता रहा। एक दिन उसने अजीगर्त नामक ब्राह्मण से मुलाकात की, जिसके तीन पुत्र थे। उसने अजीगर्त से सौ गायों के बदले उसके एक पुत्र शुनःशेप को खरीदा। **शुन:शेप को यज्ञ में बलि के लिए तैयार किया गया।**

शुनःशेप ने बलि से बचने के लिए देवताओं की प्रार्थना की और उन्हें संतुष्ट किया। उसकी प्रार्थनाओं से देवताओं ने उसे मुक्त कर दिया और राजा हरिश्चन्द्र का पेट ठीक हो गया। शुनःशेप को ऋषि विश्वामित्र ने गोद लिया और नाम दिया देवव्रत। शुनःशेप ने आगे चलकर कई ऋचाओं की रचना की और यज्ञ किए।;

इस कथा में नर बलि का उल्लेख किया गया है। शुनःशेप को यज्ञ में बलि के रूप में प्रस्तुत किया गया था। शुनःशेप ने देवताओं से प्रार्थना की और उनकी प्रार्थनाओं के कारण उन्हें बलि से मुक्त कर दिया गया।

Shatpath Brahman 6:2:1:18 में **पुरुषमेध** यज्ञ

यज्ञ में पाँच अग्नियों की स्थापना यजमान पाँच प्रकार की चित्तार्थ अग्नियाँ स्थापित करता है—जो उसकी विभिन्न इच्छाओं और प्रयोजन से जुड़ी होती हैं। इनसे "कामाय"—यानि यजमान की इच्छाओं की पूर्ति का प्रयत्न होता है।

पशुओं का क्रम और अर्थ यज्ञ में पशु-आधारित आहुति देने की परंपरा है, जिसमें श्रेष्ठता के आधार पर पुरुष, अश्व (घोड़ा), गौ और अज (बकरी) क्रमशः आते हैं। यह क्रम दर्शाता है कि कौन-सा पशु किस अग्नि के लिए प्रयुक्त होता है।

रक्षियों का आकार और समानता का विचार रक्षियाँ—जो यज्ञ में अग्नि को घेरे रखने के लिए बनाई जाती हैं—पशु की स्थिति के अनुसार बड़ी या छोटी होती थीं। लेकिन याज्ञवल्क्य का मत है कि सब अग्नियाँ एक समान हैं, इसलिए सबकी रक्षियाँ भी समान होनी चाहिए।

जब महर्षि मनु ने दे दी अपनी ही बीवी और बैल की बलि —

शतपथ ब्राह्मण 1.1.4.14-16 का (विद्वान गंगाप्रसाद उपाध्याय का सायणभाष्य आधारित अनुवाद है)

बात ऐसी है कि मनु के पास एक बैल था, जिसकी आवाज़ से असुर मर जाते थे, तो असुरों के पुरोहित किलात व आकुली ने सोचा कि मनु यज्ञ में श्रद्धा रखनेवाला व्यक्ति है, तो वो मनु के पास गये और बोले कि हम तुम्हारे लिये यज्ञ करना चाहते हैं, यज्ञ को तुम्हारे बैल से करेंगे, तो यज्ञ हुआ और मनु ने अपने ही बैल की बलि चढ़ा दी। बैल मर गया, पर वो दिव्य आवाज़ बैल से निकल के मनु की पत्नी मनावी में घुस गई, और असुर दुबारा मरने लगे मनावी की आवाज़ से, तो असुरों के पुरोहितों ने फिर से मनु को बोला कि हम तुम्हारे लिये यज्ञ करेंगे, तुम्हारी बीवी की बलि देनी होगी, तो मनु ने उस यज्ञ में बीवी की बलि भी दे दी। मनावी मर गई, पर उसकी वो दिव्य आवाज़ यज्ञ व यज्ञ के पात्रों में घुस गई, फिर असुर वहाँ से उस आवाज़ को समाप्त करने में सफल नहीं हो सके।

इस कथा से स्पष्टतया सिद्ध होता है कि वैदिकमत में पशुबलि व नरबलि होती है, यदि ये बलियां अवैदिक होती तो भला मनु क्यों तैयार होते?! वैदिक हैं, तभी तो झट से तैयार हुए। यहाँ से ये भी सिद्ध हुआ कि मनु अन्धभक्त था, अपनी ही बीवी को मरवा दिया। ऐतरेय

ब्राह्मण 7/3 में अजीगर्त ऋषि ने अपने बच्चे शुनःशेप की बलि चढ़ाने का प्रयास किया, जिस यज्ञ को करने के लिए वसिष्ठ जैसे ऋषि बिना किसी आपत्ति के तैयार हो गये। पता नहीं और क्या क्या अनाचार होता था वैदिकमत में!

गोसव यज्ञ : वैदिकमत का एक बहुत ही अजीबोगरीब यज्ञ, सुनकर उड़ जायेगा होश

गोसव यज्ञ (**जैमिनीय ब्राह्मण 2/113)** एक प्राचीन वैदिक यज्ञ है जो अपनी विचित्र और प्राचीन प्रथाओं के लिए जाना जाता है। यह यज्ञ मुख्य रूप से **तांड्य महाब्राह्मण (11.3.1), जैमिनीय ब्राह्मण (2.113),** और **तैत्तिरीय ब्राह्मण** (2.7.6.1) में वर्णित है। इस यज्ञ की विधि और प्रथाएँ काफी हद तक प्राचीन और आदिम संस्कृति से जुड़ी हुई हैं। यहाँ गोसव यज्ञ की पूरी विधि और महत्वपूर्ण बिंदुओं का विवरण दिया गया है:

गोसव यज्ञ की विधि:

1. यज्ञ का उद्देश्य:

गोसव यज्ञ का मुख्य उद्देश्य यजमान (यज्ञ करने वाला) को एक बैल की तरह जीवन जीने की प्रतिज्ञा करना है। यह यज्ञ प्रजनन क्षमता और पशुवत व्यवहार से जुड़ा हुआ है।

2. व्रत (नियम):

यज्ञ करने वाले को कुछ विशेष नियमों का पालन करना होता है, जो जैमिनीय ब्राह्मण (2.113) में वर्णित हैं। ये नियम निम्नलिखित हैं:

- यजमान को एक बैल की तरह व्यवहार करना होता है।
- उसे पानी पीते समय नीचे झुककर पीना होता है, जैसे एक बैल पानी पीता है।
- उसे घास खानी होती है, जैसे एक बैल घास चरता है।
- उसे अपनी माँ, बहन, और अपने गोत्र (परिवार) की किसी भी महिला के साथ संभोग(sex) करना होता है। यह प्रथा प्रजनन क्षमता और आदिम संस्कृति से जुड़ी हुई है।
- यजमान को प्रकृति का आवाहन (प्राकृतिक क्रिया) कहीं भी और कभी भी करना होता है, बिना किसी संकोच के।

3. यज्ञ की अवधि:

यज्ञ के बाद यजमान को एक वर्ष तक बैल की तरह जीवन जीने का व्रत धारण करना होता है। इस दौरान उसे उपरोक्त सभी नियमों का पालन करना होता है

4. यज्ञ का संदेहास्पद स्वरूप:

गोसव यज्ञ की प्रथाएँ इतनी विचित्र और आदिम हैं कि इसे एक श्रौत यज्ञ के रूप में करना संदेहास्पद लगता है। जैमिनीय ब्राह्मण में भी इस यज्ञ को करने की व्यावहारिक कठिनाइयों का उल्लेख है। उदाहरण के लिए, जनक ने इस यज्ञ को करने की इच्छा व्यक्त की, लेकिन जब उन्हें इसकी विधि और नियमों के बारे में पता चला, तो उन्होंने इसे करने से इनकार कर दिया। इसका अर्थ है, अवश्य किया जाता होगा

गोसव यज्ञ में पशुवत व्यवहार और प्रजनन क्षमता से जुड़ी प्रथाएँ प्राचीन आदिम संस्कृति और प्रकृति पूजा से जुड़ी हुई हैं। यह यज्ञ प्राचीन समय में प्रजनन और उर्वरता के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों का हिस्सा हो सकता है। हालाँकि, सभ्य समाज में इस तरह की प्रथाएँ

अस्वीकार्य हैं, THITE ने इस यज्ञपर एक शोधपत्र (published by "annals of BORI") में दुबारा इस यज्ञ का विवरण दिया और यह भी कहा कि ये बिलकुल अव्यावहारिक है और काल्पनिक लगता है, बहुत पुराने समय में शायद वैदिक लोगों द्वारा इसका अनुष्ठान होता होगा, श्रौतसूत्र के काल में श्रौतयज्ञ के रूपमें नहीं, इसकी practical difficulty को देखते हुए इसे इन्होंने अपनी तरफ से काल्पनिक भी कहा, परन्तु जैमिनिय ब्राह्मण इसे काल्पनिक नहीं कहता, इसको पुण्यकेश नामक राजा ने किया था। {चित्र 4-5} । थिटे की पुस्तक है **"sacrifice of the brahmana texts"** इसे भी पढ़ सकते हैं, वहाँ भी इन्होंने इस यज्ञ का विवरण दिया है।

सौत्रामणियाग का प्रकरण

सौत्रामणी यज्ञ(शतपथ ब्राह्मण 12/7/1 से 12/9/3 तक) एक प्राचीन वैदिक यज्ञ है, जो मुख्य रूप से सोमरस और सुरा (शराब) से जुड़ा हुआ है। यह यज्ञ इंद्र देवता को समर्पित है और इसे विशेष रूप से क्षत्रियों (योद्धाओं) के लिए माना जाता है। इस यज्ञ का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, और आपस्तम्ब श्रौतसूत्र जैसे ग्रंथों में मिलता है। यह यज्ञ अपनी विशिष्ट प्रथाओं और अनुष्ठानों के लिए जाना जाता है, जिनमें से एक प्रथा जंगली जानवरों के बालों को शराब के साथ मिलाकर पीना है।

सौत्रामणी यज्ञ का विवरण:

1. यज्ञ का उद्देश्य:

सौत्रामणी यज्ञ का मुख्य उद्देश्य यजमान (यज्ञ करने वाला) को शक्ति, ऊर्जा और वीरता प्रदान करना है। यह यज्ञ विशेष रूप से क्षत्रियों के लिए है, जो युद्ध और शक्ति से जुड़े हुए हैं। इस यज्ञ में सुरा (शराब) का उपयोग किया जाता है, जो इंद्र देवता को प्रसन्न करने के लिए है।

2. सुरा (शराब) का महत्व:

इस यज्ञ में सुरा (शराब) का विशेष महत्व है। सुरा को यज्ञ के दौरान विशेष रूप से तैयार किया जाता है और इसे यजमान और पुरोहितों द्वारा पिया जाता है। सुरा को जंगली जानवरों के बालों के साथ मिलाया जाता है, जो इस यज्ञ की एक विशिष्ट प्रथा है।

3. जंगली जानवरों के बालों का उपयोग:

यज्ञ के दौरान सुरा (शराब) को जंगली जानवरों के बालों के साथ मिलाया जाता है। इस प्रथा का उद्देश्य यह है कि जंगली जानवरों की प्रकृति (रुद्र-प्रकृति) को सुरा में समाहित किया जाए। जब यजमान इस सुरा को पीता है, तो वह रुद्र-प्रकृति का हो जाता है, यानि उसमें गुस्सा और वीरता की भावना आ जाती है। यह प्रथा यजमान को युद्ध और संघर्ष के लिए तैयार करती है।

4. रुद्र-प्रकृति का महत्व:

रुद्र एक उग्र और विनाशक देवता हैं, जो जंगली जानवरों और प्रकृति के क्रूर पहलुओं से जुड़े हुए हैं। जब यजमान सुरा को जंगली जानवरों के बालों के साथ मिलाकर पीता है, तो वह रुद्र की प्रकृति को अपने अंदर समाहित कर लेता है। इससे यजमान में गुस्सा और वीरता की भावना आती है, जो युद्ध और संघर्ष के लिए आवश्यक है।

5. यज्ञ की प्रक्रिया:

- यज्ञ के दौरान सुरा (शराब) को विशेष रूप से तैयार किया जाता है।
- सुरा को जंगली जानवरों के बालों के साथ मिलाया जाता है।
- यजमान और पुरोहित इस सुरा को पीते हैं।

- यज्ञ के बाद यजमान में रुद्र-प्रकृति (गुस्सा और वीरता) की भावना आती है।

महाव्रतयाग: गालीगलौज और वैश्यासंभोग वाला अजीबोगरीब वैदिक यज्ञ—

यज्ञ के विषय (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 21/19, कात्यायन श्रौतसूत्र 13/3/7-8) में निम्नलिखित बिंदु हैं, जिनमें गाली-गलौज और वैश्या संभोग का उल्लेख है:

1. ब्राह्मण और शूद्र के बीच गाली-गलौज:

- यज्ञ के दौरान एक ब्राह्मण और एक शूद्र के बीच गाली-गलौज होती है। ब्राह्मण यज्ञ की सफलता की प्रशंसा करता है, जबकि शूद्र यज्ञ की निंदा करता है और कहता है कि यज्ञ ने विनाश लाया है।

- यह प्रथा तैत्तिरीय संहिता (TS VII.5.9.3) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (TB I.2.6.7) में वर्णित है।

2. वैश्या और ब्रह्मचारी के बीच विवाद:

- यज्ञ के दौरान एक वैश्या (वेश्या) और एक ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला व्यक्ति) के बीच विवाद होता है। यह विवाद यज्ञ के दक्षिणी द्वार के पास होता है।

- यह प्रथा द्राह्यायण श्रौतसूत्र (Drāhyāyaṇa Śrautasūtra XI.3.9-10) में वर्णित है।

3. वैश्या और मगध देश के व्यक्ति के बीच संभोग:

- यज्ञ के दौरान एक वैश्या और मगध देश के एक व्यक्ति के बीच संभोग होता है।

- यह प्रथा तैत्तिरीय संहिता (TS VII.5.9.4) और जैमिनीय ब्राह्मण (JB II.405) में वर्णित है।

4. आर्य और शूद्र के बीच संघर्ष:

- यज्ञ के दौरान एक आर्य (वैश्य) और एक शूद्र के बीच एक गोल आकार की खाल को लेकर संघर्ष होता है। दोनों पक्ष खाल को अपनी ओर खींचते हैं और कहते हैं, "यह मेरा है।"

- इस संघर्ष में आर्य (वैश्य) की जीत होती है। यह प्रथा कात्यायन श्रौतसूत्र (Kātyāyana Śrautasūtra 13.3.6) में वर्णित है।

एक झलक में- यज्ञ के दौरान गाली-गलौज और वैश्या संभोग जैसी प्रथाओं का स्पष्ट उल्लेख है। ये प्रथाएँ तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण, और कात्यायन श्रौतसूत्र जैसे प्राचीन ग्रंथों में वर्णित हैं। सर्वप्रथम इसमें वेदी के बाहर स्थित एक अनार्य शूद्र जाति के पुरुष और वेदी के भीतर स्थित आर्य ब्राह्मण के बीच में युद्ध का नाटक होता है, इसमें शूद्र व्यक्ति यजमान और ब्राह्मण को गाली देता है तथा पुरोहित यजमान व ब्राह्मण की प्रशंसा करता है, इस युद्ध में शूद्र को हारना होता है, यह अनार्य पर आर्य के प्रभुत्व का प्रतीक है। वैसे इन गालियों को जानने के लिए भाष्य की भी जरूरत नहीं, मूलसूत्र से ही स्पष्ट ये गालीयां दिख जाती हैं। सबसे पहले स्त्री ब्रह्मचारी को गाली देती है कि "**तू दुश्चरित्र पुरुष है, अवकीर्णिन् है**" अवकीर्णिन् कहते हैं, उसे जो **ब्रह्मचर्य** को नहीं संभाल पाता, जिसके लिंग (शिश्न) के रास्ते से वीर्य बह जाता है। बदले में ब्रह्मचारी उस स्त्री को गाली देता है कि **"तू बदचलन है, वैश्या है, गांव के हरेक मर्द का शिश्न (लिंग) साफ करती है"** (धिक्त्वा जाल्मि पुंश्चलि ग्रामस्य मार्जनि पुरुषस्य पुरुषस्य शिश्नप्रणेजनिति)। जब ये सब गालियाँ यज्ञवेदी के समीप हो रही होता हैं तो यज्ञवेदी से थोड़ी दूरी पर बने हुए झोपड़े में मगध के किसी मर्द का और किसी वैश्या स्त्री के साथ संभोग(sex) चल रहा होता है।

अश्वमेध यज्ञ: (कात्यायन श्रौतसूत्र - 20/1/36-38, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र - 20/3/6-13, शतपथ 13/1/2/9)। कुत्ते व घोड़े की बलि वाला और घोड़े से संभोग वाला वैदिक यज्ञ—

पुस्तक में वर्णित अश्वमेध यज्ञ की प्रक्रिया के बारे में निम्नलिखित बिंदु हैं:

अश्वमेध यज्ञ की प्रक्रिया:

1. घोड़े की पूजा और संस्कार:

- यज्ञ के दौरान घोड़े को विशेष रूप से पूजा जाता है और उसके शरीर को सजाया जाता है।

- घोड़े के पैरों को रानी (महिषी) के पैरों के साथ जोड़ा जाता है, और उन्हें एक साथ बाँधा जाता है।

- रानी घोड़े की निंदा करती है, जो यज्ञ का एक अनुष्ठानिक हिस्सा है।

2. घोड़े और रानी का संयोग:

- अध्वर्यु (यज्ञ का मुख्य पुरोहित) रानी और घोड़े को एक साथ लिनन के वस्त्र से ढकता है।

- रानी और घोड़े के जननांगों को जोड़ा जाता है, और रानी घोड़े की निंदा करती है।

- अन्य रानियाँ भी घोड़े की निंदा करती हैं।

3. कुत्ते की बलि:

- यज्ञ के दौरान एक चार-निशान वाले कुत्ते की बलि दी जाती है।

- कुत्ते को सिध्रक लकड़ी के मूसल से मारा जाता है।

- कुत्ते की बलि का आदेश एक अयोगव (वैश्य और शूद्र के बीच की संतान) या एक व्यभिचारिणी स्त्री को दिया जाता है।

4. घोड़े की बलि:

- घोड़े को एक सोने की प्लेट पर रखकर मारा जाता है।

- घोड़े को एक ऊनी या लिनन के कपड़े से दबाकर मारा जाता है।

- अन्य जानवरों को प्लक्ष वृक्ष की शाखाओं पर मारा जाता है।

5. रानी और घोड़े का संयोग:

- रानी घोड़े के शव के पास सोती है और उसके लिंग को अपनी योनी(vagina) में लेती है।

6. अन्य अनुष्ठान:

- यज्ञ के दौरान विभिन्न मंत्रों का उच्चारण किया जाता है, और घोड़े के शव को विशेष रूप से संस्कारित किया जाता है।

- यज्ञ के अंत में घोड़े के शव को जलाया जाता है, और उसकी राख को पवित्र माना जाता है।

एक झलक में:-पुस्तक में वर्णित अश्वमेध यज्ञ की प्रक्रिया में घोड़े की पूजा, कुत्ते की बलि, और रानी के साथ घोड़े का संयोग जैसे अनुष्ठान शामिल हैं।

इस यज्ञ में पहले एक कुत्ते की बलि दी जाती है, कुत्ते को चार आंख वाला इसलिए बताया गया है क्योंकि उसकी आंख के समीप चार चिह्न बनाये जाते हैं ऐसा भी स्पष्ट कहा गया है, यह बलि घोड़े की पवित्रता के लिए होती है। बड़े से डंडे (मूसल) से कुत्ते को पीट पीटकर मारा जाता है, इस प्रकार बलि होती है|*{ चित्र-1, विद्वान HG रानाडे द्वारा पारंपरिक कर्कभाष्य के आधार पर अंग्रेजी में अनुवादित कात्यायन श्रौतसूत्र - 20/1/36-38 ; चित्र-2, विद्वान गणेश उमाकान्त थिटे द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित आपस्तम्ब श्रौतसूत्र - 20/3/6-13 ; चित्र-3, विद्वान गंगाप्रसाद उपाध्याय द्वारा पारंपरिक सायणभाष्य पर आधारित व हिन्दी में अनुवादित शतपथ ब्राह्मण - 13/1/2/9 }*।

तत्पश्चात् घोड़े की बलि दी जाती है, घोड़े के साथ साथ अन्य सैकड़ों जानवरों को भी मारा जाता है। घोड़े को और उन सब पशुओं को किसी विशेष कपड़े या रस्सी से दम घोंट के मारा जाता है। *{ चित्र-4, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र - 20/17/9, वही थिटे वाला ; चित्र-5, कात्यायन श्रौतसूत्र - 20/6/10, वही रानाडे वाला ; चित्र-6, कात्यायन का यही श्रौतसूत्र हिन्दी अनुवाद }*

फिर राजा की प्रधान रानी (महिषी) को और मरे हुए घोड़े को साथ में सुलाया जाता है और ऊपर से चद्दर डाल दी जाती है, **फिर अध्वर्यु के निर्देशानुसार रानी घोड़े के लिंग (शिश्न) को खींच के अपनी योनि में डालती है**, शतपथ में तो संस्कृत में स्पष्ट लिखा ही है कि **"अश्वस्य शिश्नं महिषी उपस्थे निधत्ते",** जब ये संभोग चल रहा होता है तब बाकि की रानियां व अध्वर्यु **अश्लील गाली** दे रहे होते हैं, गाली देना भी एक प्रथा है इस यज्ञ में, इसको शुभ माना जाता है ; *{ चित्र-7, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र - 20/18/4-5, थिटे ; चित्र-8, कात्यायन श्रौतसूत्र - 20/6/16, वही रानाडे वाला ; चित्र-,9, इसी कात्यायन श्रौतसूत्र का हिन्दी में अनुवाद ; चित्र-10, शतपथ ब्राह्मण - 13/5/2/2, गंगाप्रसाद व }*